अतिमुक्त

गणेश ललवानी

अनुवादिका
राजकुमारी बेगानी

जैन भवन । कलकत्ता



जैन भवन

प्रकाशन वर्ष १९७५

प्रकाशक :
श्री कान्तिलाल श्रीमाल
मन्त्री, जैन भवन
पी-२५ कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७

मुद्रक :
श्री नवरतनमल सुराना
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
२०५ रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता-७

चित्रकार :
श्री विभूति सेनगुप्त

मूल्य ४ ००

२५०० वाँ भगवान महावीर निर्वाणोत्सव के उपलक्षमें प्रकाशित

प्रकाशकीय

आज से चार वर्ष पूर्व श्री गणेश ललवानी लिखित बगला भाषा में जैन कथानक का एक सग्रह 'अतिमुक्त' जैन-भवन से प्रकाशित किया गया था। इसकी अनुपम रचना शैली, भाषा तथा विषय गौरव के लिए विद्वत् बगाली समाज द्वारा इसका अच्छा स्वागत किया गया। यहाँ तक की जातीय अध्यापक डा० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय ने प्रमुदित होकर स्वयं एक पत्र लिखकर लेखक को अभिनन्दित किया। अतः इस कृति का हिन्दी अनुवाद भी अत्यावश्यक था ताकि हिन्दी भाषा-भाषी इसके रसास्वादन से वंचित न हो। हमें अपार हर्ष है कि यह दुरुह कार्य सम्पन्न किया हमारे जैन शिक्षालय की प्रधानाध्यापिका श्रीमती राजकुमारी बेगानी ने। इसके लिये हम उनके हार्दिक आभारी हैं।

हमे इस बात का भी हर्ष है कि हम इस ग्रन्थ को भगवान महावीर के २५०० वाँ निर्वाण वर्ष में प्रकाशित कर सके।

आप द्वारा रचित 'अतिमुक्त' पुस्तक प्राप्त कर मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। जैन धर्म, अनुष्ठान, इतिहास एवं दर्शन सम्बन्धीय कुछ-कुछ पुस्तकें बंगला भाषा में भी पाई जाती है। किन्तु जैन शास्त्र ग्रन्थों से लेकर लिखा हुआ, इस रूप का कहानी संग्रह मैंने इसके पूर्व नहीं देखा। क्या आर्ष प्राकृत में, क्या अन्य प्राकृत में, क्या संस्कृत में, क्या अपभ्रंश में, क्या प्राचीन गुजराती में, राजस्थानी और हिन्दी में जैन कथा-सम्पद, प्रसार और सौन्दर्य में अतुलनीय है। यद्यपि अधिकांश कहानियाँ मुनि, यति व साधुओं द्वारा कथित होने के कारण प्रायः सर्वत्र ही प्रव्रज्या की महिमा पर प्रकाश डालने वाली हैं। साधारण पाठक इसमें से जो साहित्य रस प्राप्त करते हैं वह मुख्य नहीं, गौण है। किन्तु बहुत सी ऐसी भी कहानियाँ है जो रस सर्जन करने में तो अत्यन्त मनोहर हैं ही साथ ही वैराग्य धर्म के अन्तराल में अन्तः-सलिला फल्गु नदी की भाँति उसमें अन्तर्निहित सौन्दर्य एवं रसधारा, समस्त सहृदयी साहित्य कला प्रेमियों को प्रेरित करेगी। आपकी यह छोटी किन्तु अत्यन्त सुन्दर भाव से प्रांजल प्रचलित बंगला में लिखित 'अतिमुक्त' पुस्तक लगता है रसोत्तीर्ण जैन कहानी साहित्य का विदग्धजन समाज से परिचित करवाने का प्रथम प्रयास है। इसी तरह की और भी अनेक पुस्तकें हम आपसे चाहते हैं। कहानियों को जहाँ तक सम्भव

हो मूलानुसारी रखना होगा—साहित्यिक cliche—जैन साहित्य का "वण्णअ" की भाँति—मूलग्रन्थ वहिर्भूत वर्णनात्मक अलकरण जितने कम होगे उतना ही अच्छा होगा। प्रत्येक कहानी के अन्त में उसके उद्गम पर मूल ग्रन्थ का पूर्ण निर्देश आग्रही पाठकों के लिये विशेष उपयोगी होगा। आप पहले इसी रूप में कहानी मूलक 'महावीर चरित्र' हमें प्रदान करें। तत्पश्चात् एक या एक से अधिक खण्ड में चौवीस (या तेईस) तीर्थंकरो की चरित-कथा दीजिये। इससे कहानियों का अशेष भण्डार जैन साहित्य का प्रचार सहज रूप में होगा ही, साथ ही साथ जैन दार्शनिक मत का और आध्यात्मिक विचारो का वगाली पाठक परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

'अतिमुक्त' का वाह्य सौष्ठव सुन्दर हुआ है, एव शिल्पी श्रीयुक्त विभूति सेनगुप्त के चित्र भी अद्भूत हैं। इन सुन्दर चित्रों ने पुस्तक की मर्यादा वढ़ा दी है। आपकी आगामी कहानियाँ व चरित विपयक जैन ग्रन्थमाला में आप इसी प्रकार के चित्र निश्चय ही दीजियेगा। (हमलोग आशा करते हैं कि हम इस तरह की पुस्तकों से वंचित नही होंगे।) मचित्र महावीर चरित विशेष रूप से अपेक्षित है।

आपकी इस पुस्तक को पाकर अपार आनन्द हुआ। अतः आपको यह पत्र लिखा। यह पत्र लेखन सम्पूर्ण "आनन्दोत्थ" है और यह आनन्द आपने ही दिया है इसलिये आपको धन्यवाद। इति १ अगस्त १६७२

श्री सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय

अतिमुक्त

महावीर के शिष्य गौतम एक दिन पोलासपुर राजप्रासाद के वगल से गुजर रहे थे ।

उस समय राजप्रासाद के वाहरी उद्यान में राजकुमार अतिमुक्त अपने साथियों के साथ खेल रहा था । सहसा उसकी दृष्टि गौतम पर पडी । न जाने क्यों गौतम की सौम्य मूर्ति से वह इतना प्रभावित हुआ कि खेलना भूल गया और उनके पास दौडकर आया । वोला, भदन्त, आप कौन हैं ?

गौतम ने सक्षेप में अपना परिचय देते हुए कहा, श्रमण ।

परन्तु इस परिचय से अतिमुक्त संतुष्ट नही हुआ । वह प्रश्नो पर प्रश्न करने लगा, आप कहाँ रहते हैं ? क्या करते हैं ? कैसे आपकी जीविका चलती है ? आप कहाँ मे आ रहे हैं ? और कहाँ जाएँगे ?

इन प्रश्नों को सुनकर गौतम मुस्कराए और वोले, हम श्रमण हैं । आत्म चिंतन ही एकमात्र हमारा कार्य है । और निवास ? हमलोगों का निवास सर्वत्र है । जव जहाँ रह जाएँ, वही हमारा निवासस्थान है । अव रही जीविका अर्थात् पेट भरने की वात, सो तो यह हमलोगो के लिए कोई चिन्ताजनक वात नही है । जहाँ जो कुछ शुद्ध आहार मिल

जाता है उसे ही हम वहाँ ग्रहण कर लेते हैं। और अभी मैं नगर के बाहर स्थित उद्यान से चला आ रहा हूँ, जहाँ हमारे आचार्य ठहरे हुए हैं। पुनः वहीं लौट जाऊँगा।

आपके आचार्य! क्या हम उनका दर्शन नहीं कर सकते?

क्यों नहीं? कोई भी उनके निकट जा सकता है। उनका द्वार सभी के लिए खुला है।

यह सुनकर अतिमुक्त अत्यन्त प्रसन्न हुआ। आचार्य के पास जाने को गौतम के साथ ही चल पड़ा। गौतम के साथ एक लम्बी दूरी पार करने के पश्चात् जिस समय अतिमुक्त उद्यान में पहुँचा उस समय भगवान् महावीर उपस्थित जन-साधारण को उपदेश दे रहे थे।

अतिमुक्त प्रशान्त मन-स्थिति में उनकी अमृत तुल्य वाणी सुनता रहा। वह वाणी उसके अन्तर में प्रवेश कर गयी। व्याख्यान समाप्त होते ही वह उनके सम्मुख आ खड़ा हुआ। बोला, भदन्त, मैंने आपकी शरण ग्रहण की है। आप मुझे दीक्षा दें।

उसकी बात स्वीकार करते हुए भगवान ने कहा, वत्स, अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर आओ। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।

गुरु का आदेश शिरोधार्य कर अतिमुक्त अपने माता-पिता की अनुमति लेने घर आया। उसकी प्रव्रज्या लेने की बात सुनते ही महाराज, महारानी, यहाँ तक की समस्त अन्तःपुर विचलित हो उठा। भाँति-भाँति के प्रलोभनों द्वारा उसे इस निर्णय से निवृत्त करने की चेष्टा की गयी। किन्तु जिसके मन का संकल्प दृढ़ हो जाता है उसे डिगाया नहीं जा सकता। अतः अतिमुक्त को भी वे विचलित नहीं कर सके।



लकड़ी का भिक्षापात्र पानी में तैरा कर वह देखता रहा।

अन्त में माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर अतिमुक्त गुरु के साथ चला गया ।

दिन पर दिन बीतते गये । एक दिन अतिमुक्त श्रमणों के साथ भिक्षा के लिए नगर की ओर जा रहा था । वर्षा ऋतु थी । कुछ समय पूर्व ही मूसलाधार वर्षा हो चुकी थी । नगर के [illegible] से निकलने वाले नाले में पानी बह रहा था । और एक ध्वनि आ रही थी कल-कल कल-कल । ध्वनि कान में पड़ते ही अतिमुक्त सहसा खड़ा हो गया ।

लहरों की ध्वनि सुनकर उसे अपने बचपन की एक बात याद आ गई । उस दिन भी ऐसे ही नाला उमड़ रहा था एवं ऐसी ही कल-कल ध्वनि आ रही थी । वह उस पानी में कागज की नाव तैरा रहा था और चम्पा भी अपनी नाव तैरा रही थी । उसकी नाव तो तिर गयी किन्तु चम्पा की नाव न जाने क्यों पानी के बहाव में उलट गयी । किन्तु कितनी दुष्ट थी चम्पा । कह रही थी कि अतिमुक्त की नाव डूब गयी है, उसकी नहीं । अतिमुक्त ने उसे एक थप्पड़ मारते हुए कहा था, यह झूठ है ।

झूठ ही तो था ?

अतिमुक्त सम्भवतः अपने को भूल बैठा । वह धीरे-धीरे नाले की ओर बढ़ा । लकड़ी का भिक्षापात्र पानी में तैरा कर वह देखता रहा और बड़बड़ाता रहा, यह झूठ है । यह देखो मेरी ही नाव तैर रही है ।

श्रमणगण अतिमुक्त की यह दशा देखकर आश्चर्य-चकित हो उठे ।

उन्होंने उसे समझाने की चेष्टा की। किन्तु उसके पल्ले कुछ भी पडता है ऐसा दिख नही रहा था।

अतः सभी श्रमण उसे वही छोडकर चले गए।

श्रमणों के मन में सशय उत्पन्न हो गया। वे सोचने लगे भगवान् ने न जाने क्या समझ कर इस नादान वालक को दीक्षा दे दी।

क्या समझ कर दीक्षा दी यह तो वे ही जाने! भगवान् का सोचना-विचारना साधारण मनुष्यों जैसा नहीं था। उनकी दृष्टि मानव की दृष्टि नहीं थी। एतदर्थ इस विषय में भगवान से प्रश्न करने का अधिकार भी उन्हें कहाँ था?

यह अधिकार वास्तव में ही उन्हें नही था। कारण अचानक स्वय पर दृष्टि पडते ही अतिमुक्त की चेतना लौट आयी। ओह! मैंने यह क्या किया? अपनी जीवन-नौका को पार करने के लिए ही तो मैंने भगवान की शरण ली है। अव मै कौन सी नौका को पानी में तैराकर खेलने लगा? और यहाँ तक कि खेल में मत्त होकर वयोवृद्ध श्रमणों की भी अवज्ञा की।

इस पश्चात्ताप ने अतिमुक्त के हृदय में दिव्य भावना जाग्रत कर दी। उसी भावना से जीवन का अतिक्रमण कर वह उसी क्षण में मुक्त हो गया।

चित्र और संभूत

राजमन्त्री नमृची का अध.पतन हुआ। अत' काशी नरेश ने नमृची को प्राणदण्ड देकर डोम को सौंप दिया।

नमृची एक अच्छा गायक था। उसके मधुर कण्ठ का गीत सुनकर डोमपुत्र चित्र और सम्भूत के कण्ठ में भी गीत जाग उठा।

वीणा पर नमृची के गीत क्या थे मानो वर्षा की बूँदों से भरी नन्ही-नन्ही जूही हवा में थिरक उठी हो।

डोम उसका गीत सुनता। उसका मन कैसा-कैसा हो जाता। कुछ ऐसी अज्ञात भावनाएँ उसके मन और मस्तिष्क को झकझोर देती, जिनके विषय में उसने न कभी सोचा था न कभी समझा था। हो सकता है वे उसके अवचेतन मन में कहीं दबी हों। यही कारण था कि वह राजा की आज्ञा भी भूल गया।

परन्तु राजा की आज्ञा तो सर्वोपरि है। प्रकट रूप में उसे अमान्य करने का दुस्साहस वह नही कर सका। अत. सबकी आँखें बचाकर उसने नमृची को अपने घर में रखा। राज्याज्ञा है तो क्या हुआ? नमृची का प्राण इतना छोटा नहीं है। उसके वे गीत जिनकी तुलना नहीं की जा सकती क्या कोई साधारण वस्तु है? फिर वह क्यो

चिरकाल के लिए अपराधी बने। यही सोचकर उसे यह दुस्साहस करना पडा।

एक और घटना घटी। नमूची का गीत सुनकर डोम के घर की स्त्रियाँ विह्वल हो उठी। वीणा की तारों के झंकार ने जब उन्हें आकृष्ट कर लिया तो ऊँच-नीच एवं गोरे-काले का सभी भेद-विभेद समाप्त हो गया। उन स्त्रियो से भूलें होने लगी। अतः प्रचण्ड भूकम्प से जिस दिन डोम परिवार में दरारे पडनेवाली थी, नमूची उसी दिन वहाँ से गायब हो गया। क्योंकि अब डोम के द्वारा ही प्राण जाने की आशंका थी।

नमूची चला गया किन्तु चित्र और सम्भूत का गाना बन्द नही हुआ। उनके मन में थी नयी उमगें एव कण्ठ में थी स्वरलहरियाँ और साथ ही साथ थी गुणी की मर्यादा को प्राप्त करने की प्रबल आकाक्षा। ओह! क्या वे उस दिन जान पाए कि डोम के घर वाणी की साधना को सहन करने की क्षमता उन दिनों किसी में नही थी। जो भी उनके गीत सुनते मुग्ध हो जाते, किन्तु ज्योंही जान पाते कि ये गायक डोम हैं, छीः छीः कर उठते। सभी कहने लगते, पता नही आगे जाकर क्या होगा। इन्हे प्रश्रय देना कदापि उचित नही। देश के प्रमुख शिरोमणि तक यही कहते, ऐसा तो न कभी आँखों देखा, न कानों सुना। इन्हें गीत गाने से रोकना ही चाहिए। एक डोम की इतनी हिम्मत!

तदुपरान्त सहसा न जाने कौन आया और वीणा के तारों को इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर डाला जैसे बाज पक्षी कबूतर पर झपट पडा हो। गीत बन्द हो गए।

किन्तु चित्र और सम्भूत के हृदय में अग्नि की लपटें उठने लगी। जैसे भी हो डोम होने की जो पाषाणी प्राचीरें उन्हें चारो ओर से घेरे हुए हैं उसे ध्वस करना ही होगा।

उस दिन समस्त रात्रि आँधी चलती रही। उसी झंझावात के मध्य किसी की दीर्घ निःश्वास तो डोम के कानों में पडी, किन्तु उठना चाह-कर भी वह उठ न सका। सोचा, जो नव किसलय हवा में स्थिर नहीं हो पा रहे हैं, शायद उन्हीं का यह शब्द है। अत. पुन वह सो गया।

दूसरे दिन प्रभातकालीन सुनहली किरणों ने जब डोम के आँगन में प्रवेश किया तब चित्र और सम्भूत को कही नहीं पाया गया।

फसल के खेतों को चीरती हुई जो राह पर्वत के बगल से विस्तृत थी उसी राह पर वे चल रहे थे। कुछ करेंगे अवश्य किन्तु क्या? यह वे अभी तक सोचकर भी सोच नहीं पाए थे। अकस्मात पर्वत पर उनकी भेंट हुई एक आचार्य से। उनके प्रशान्त मुख मण्डल से एक दिव्य ज्योति छिटक रही थी। उन्होने इनकी दर्दभरी कहानी सुनी, और मुस्कुराते हुए बोले, कहाँ है वह दीवार? कही नहीं है। यह तो तुम्हारा भ्रम मात्र है। आचार्य ने उन्हें दीक्षा दी और दिया प्राणों का सजीवन मन्त्र।

अब वे विश्व के समस्त सुर ताल छन्द और गति को अपने में ही अनुभव करने लगे।

इसीलिए अब वे प्राचीरें कही नही रही। समाप्त हो गया था मानव का मानव से विभेद और टूट गयी वे देश और विदेश की सकीर्ण सीमाएँ। अब तो सभी के साथ उन्होंने तादात्म जो स्थापित कर लिया था।

अब नमूची थे हस्तिनापुर के राजमंत्री। भिक्षु चित्र और सम्भूत हाथ में भिक्षा पात्र लिए आ खडे हुए उनके प्रासाद के सन्मुख। यह दैव इच्छा ही तो थी।

नमूची लज्जा से लाल हो उठा। वह सोचने लगा कहीं ये उसके अधःपतन की बात न खोल दें। अतः नमूची की आज्ञा से उसके अनुचर उन्हें चण्डालपुत्र कहकर लज्जित करते हुए परिखा के उस पार छोड आए।

भिक्षु चित्र का हृदय तो इस अपमान से विचलित नहीं हुआ। क्योंकि उसका मन था शुभ्र और निर्मल। अतः उसने तो सहज भाव से ही क्षमा कर दिया। किन्तु सम्भूत के लिए ऐसा करना सम्भव न हो सका। उसका मन तो उनके प्रति आक्रोश मे भरा रहा जिन्होंने उन्हें घृणापूर्वक दुत्कारा था। अतः नमूचीकृत अपमान उसे काँटे की तरह चुभ रहा था।

सम्भूत के मन में तपस्या का गर्व था। वह अन्याय नहीं सहेगा जिन्होने अन्याय किया है उन्हें और समग्र हस्तिनापुर को वह तप.लब्ध शक्ति से जलाकर राख कर देगा।

किन्तु एक क्षण के लिए भी वह नही सोच पाया कि उन्हें जलाकर राख कर देने पर उसकी उपवास क्लिष्ट तपस्या की समस्त सार्थकता ही नष्ट हो जायेगी।

सनत्कुमार थे उस समय हस्तिनापुर के चक्रवर्ती सम्राट। उन्होंने जब यह बात सुनी तो स्थिर न रह सके। राजदण्ड फेंककर साधु के निकट जा पहुँचे। और सभी की ओर से क्षमा प्रार्थी हुए।

सम्भूत क्षमा करने को बाध्य हुआ। किन्तु उसका मन विचलित था। अतः धैर्य खोकर वह एक नयी मोड लेने को विवश हो गया।

चक्रवर्ती सम्राट। जिन्हें किसी बात का अभाव नहीं। कितना बडा परिवार, कितने दास-दासी, कितना धन-रत्न। सम्भूत सोचने लगा यदि कुछ पाना ही है तो पाना चाहिए चक्रवर्ती के इन ऐश्वर्य को। बस, मुझे तो यही चाहिए।

मृत्यु के पश्चात नवीन जीवन प्राप्त किया चित्र और सम्भूत ने। कामना के द्वारा जिस परिवेश की रचना सम्भूत कर बैठा था वह उसी में आवद्ध रहा। अत. उसका साथ छूट गया चित्र से।

वही सम्भूत अब कम्पिलपुर के चक्रवर्ती महाराजा ब्रह्मदत्त हैं। वह भी एक दिन था और आज भी एक दिन है।

जातिस्मरण ज्ञान होने पर सहसा उन्हें चित्र की याद हो आयी। उनका मन उससे मिलने को अधीर हो उठा। पर वह आज है कहाँ? हजारों वर्ष के अन्तराल का अतिक्रमण होना क्या सम्भव नहीं है? अवश्य सम्भव है।

सम्भूत ने कविता लिखी, किन्तु लिखा मात्र प्रथम चरण। जो द्वितीय चरण पूरा करेगा उसे वे आधा राज्य देंगे।

राज्य के लोभ से कितने ही कवि आये और कितने ही छन्दाचार्य। सभी द्वितीय चरण को मिलाने का प्रयत्न करते किन्तु मिला नहीं पाते राजा के मनोनुकूल। अतः लज्जित होकर लौट जाते। इसी प्रकार कुछ दिन बीत गए।



राजा की दृष्टि एक ध्यानमग्न तरुण तापस पर पड़ी ।

एक दिन राज-उद्यान का माली आया। बोला, प्रभो ! मैं पूरी करूँगा कविता।

राजा ने कहा, ठीक है।

माली ने जो पूर्ति दी वह राजा के मनोनुकूल थी। आषाढ के नीर भरे आकाश की भाँति उनकी दोनों आँखें छलछला उठी। स्निग्ध कठ से पूछा, क्या तुमने की है यह पूर्ति ?

माली उन्हें उद्यान में ले गया। राजा की दृष्टि एक ध्यानमग्न तरुण तापस पर पडी।

कौन चित्र। हाँ हाँ, यह चित्र ही तो है।

चित्र ने दृष्टि उठायी। उस दृष्टि में थी असीम करूणा, असीम तृप्ति।

सम्भूत ने कहा, तुम्हारी यह तपःक्लिष्ट देह और यह मुनिवेश मैं देख नही सकता। तुम्हारी सुकोमल देह के लिए यह शोभनीय नही है।

चित्र ने पुन. मुस्कुराते हुए कहा, मुझे तो इसमें कोई कष्ट नही है।

किन्तु मै तुम्हे नही छोड सकता। अब आधा राज्य तुम्हारा है।

चित्र ने हँसकर कहा, क्या तुम मुझे इस प्रकार पकडकर रख सकोगे ? जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न देखता है, उसी प्रकार का है यह भी एक स्वप्न। न जाने कब टूट जाय। फिर तो इसका कोई चिन्ह भी शेष नही रह जायेगा। क्या करूँगा मैं स्वप्न देखकर। मै तो देख रहा हूँ उस शाश्वत सत्य को जिसे पाकर कुछ पाने की कामना ही नही रह जाती। तुम भी आओ ना ! क्या तुम्हारा मन उसे पाने को नहीं करता ?

अर्थात उस शून्य की प्राप्ति, जब कुछ भी पाने की इच्छा ही न हो।

नहीं, पूर्णता की प्राप्ति। आखिर कितने दिन पाने न-पाने के इस द्वन्द में तुम पड़े रहोगे? यही है दु:ख और यही है माया का वन्धन। तुम्हारे सामने है अमृत। क्या तुम इस अमृत का पान करना नहीं चाहते?

यह सब झूठ है। भ्रम है।

दोनों का मन मिल न सका। भला मिलता भी कैसे। आज उनके मध्य भोग और त्याग की लक्ष-लक्ष योजन की दूरी जो है।

चित्र चला गया सुख-दुःख की सीमा पारकर अनन्त प्रकाश पुंज के मध्य।

और सम्भूत पड़ा रहा नदी के इसपार जहाँ कामना का असह्य दंश है, भोग की अतृप्ति से जहाँ का आकाश आकुल है।

चिलाती-पुत्र

उस समय राजगृही में ऐसा कोई भी व्यक्ति नही था जिसने श्रेष्ठी धनदत्त का नाम नही सुना होगा। सारे देश में उनकी ख्याति थी, सर्वत्र वे मान्य थे।

चिलाती इसी श्रेष्ठी परिवार की एक क्रीतदासी थी। अपने विनय, अपने कार्य-नैपुण्य के कारण वह इतनी सुपरिचित हो गई थी कि लोगों की जिह्वा पर उसके पुत्र का नाम मानो खो-सा गया था, सभी उसे चिलाती-पुत्र के नाम से ही जानते थे। उस दासी के नाम-गौरव से ही वह हमारे निकट परिचित है।

इसीलिए श्रेष्ठी-कन्या सुषमा के साथ-साथ उसका लालन-पालन हुआ। उस समय कुल-मर्यादा का ध्यान किसी को नही आया।

इसके बाद अनेक दिन बीत गए। चिलाती की मृत्यु हो गयी थी और उसी के साथ अस्त हो गया था चिलाती-पुत्र का सौभाग्य-सूर्य। अब श्रेष्ठी परिवार के बहुत से अन्य लोगों की भाँति ही वह भी एक था। किसी ने भी उसे विशेष रूप से मन में स्थान नही दिया।

किन्तु हाँ, सुषमा के मन में उसके लिये विशेष स्थान था। उसकी याद आते ही वह अन्यमनस्क सी हो जाती, चमक उठती एव लजा जाती।

उनका बहुत पुराना परिचय था। कितनी बार एक साथ रहे, मिले बातचीत की। कितने साध, कितने स्वप्न सजाए थे उसने उसी आधार पर। जाति-भेद का तो कभी प्रश्न ही उसके मन में नही उठा।

चिलाती-पुत्र को भी सुषमा से प्रेम था। किन्तु उसका मन था अशिक्षित, दुर्दम, चचल। अनिर्देश्य कामना के तप्तवाष्प से उत्तप्त। इसी कारण सुषमा जो कुछ चाहती थी, वैसा वह कुछ कर नही पाता। वह तो अपनी ही मस्ती में, विभिन्न मित्रों के साथ नगर के बाहर दिन व्यतीत करता रहता। खाने के समय भी कभी आता, कभी नही।

धीरे-धीरे रात को लौटने में भी उसे देर होने लगी। सुषमा बैठी-बैठी उसकी राह देखती रहती। दिन का सूर्य अस्त होकर सन्ध्या हो जाती, रात्रि के तारे धीरे-धीरे सर पर आ जाते। किन्तु निष्प्रभ नयन की करुण-कामना के अनिमेष निहारने का अन्त नही होता।

एक ऐसा ही वैशाख था। चिलचिलाती धूप में छाया का लेशमात्र भी नही था। सुषमा उसका भोजन लिये बैठी थी।

अरहट का पानी नाले में झरझर-झरझर बहा जा रहा था। उसी नाले में पख भिगोंकर एक कौआ टूटी मुडेर पर आ बैठा। फिर न जाने क्या सोचकर लगा कॉव-कॉव करने।

सुषमा का मन था तिक्त-विरक्त। हवा क्या थी मानों अग्निशर। इसी समय आया चिलाती-पुत्र, कर्कश-कण्ठ से प्यास बुझाने के लिये पानी माँगा।

क्षणमात्र के लिये सुषमा के धैर्य का बाँध टूट गया। रुक्ष स्वर में बोली, तुम्हारे मित्र तुम्हें पानी भी न दे सके ?

श्रेष्ठी उस दिन घर में ही थे। यह वात उनके कानों में पडी। उन्होंने सुषमा को पुकार कर कहा, उसे कह दे कि वह यहाँ से चला जाय और भविष्य में भूलकर भी मेरे घर में पैर न रखे। जो अविनयी होते हैं उनकी छाया से भी पाप लगता है।

अश्रुजल में सुषमा का हृदय धुल गया, किन्तु वह चिलाती-पुत्र को शान्त नही कर सकी। जल की एक घूँट लिए विना ही वह सुषमा के हाथ झटक अधड की भाँति निकल गया। जाते-जाते कह गया चाहे जैसे भी हो श्रेष्ठी के घर से एक दिन वह सुषमा को अवश्य ले जाएगा। देखें, कौन उसे रोक सकेगा।

तदुपरान्त सचमुच ही एक दिन दलवल सहित भेरी वजाता हुआ चिलाती-पुत्र आया। श्रेष्ठी मोहल्ले में भयकर कोलाहल मच गया। इसके वाद राजप्रहरियों के आने के पूर्व ही उसके साथी पहाडी पथ से वन के अन्धकार में धन-रत्न लेकर अदृश्य हो गये। साथ ही सुषमा को भी घर पर नहीं पाया गया।

कितनी भयानक थी वह रात्रि। आकाश काले मेघों से आच्छन्न था, घनघोर वृष्टि की सम्भावना थी। श्रेष्ठी को खवर मिली कि चिलाती-पुत्र सुषमा को लेकर पहाड से सटा हुआ जो रास्ता वन की ओर गया है, उधर ही अकेले निकल गया है। क्रोध से श्रेष्ठी का मुख लाल हो उठा। फिर क्षणमात्र की भी देर किए विना घोडे पर सवार होकर वे उधर ही सरपट दौडे। उनके साथ कई सशस्त्र रक्षक भी थे। सूँ सूँ करके आँधी आ रही थी, साथ ही हो रही थी वर्षा।

रह-रहकर विजली भी जोर से चमक उठती थी। दूर-दूर को घूमता हुआ रास्ता भी जैसे खो गया था।

- उसी जगल की राह पर सुषमा को चिलाती-पुत्र लिये जा रहा था। उस गहन अन्धकार में मात्र जुगनू का प्रकाश रह-रहकर झिलमिला उठता था। पहाडी हवा थी वर्फ जैसी ठण्डी।

हठात् मेघ गर्जन के साथ ही कडकडाकर वज्रपात हुआ। दोनों चौंक उठे। उन्होंने देखा श्रेष्ठी रक्षकों के साथ पहाड पर चढ़े आ रहे हैं।

मारे भय के सुषमा के कदम आगे नही उठ सके। ओह! कहती हुई सज्ञाहीन होकर वह धरती पर गिर पडी।

चिलाती-पुत्र ने उसे अपनी वाँहों में उठा लिया। किन्तु श्रेष्ठी अव वहुत दूर नही थे।

चट्टानों की रगड से पैर छिल गये, मारे सर्दी के हाथ ठिठुर गए, फिर भी वह चलता रहा। किन्तु पथ था अन्तहीन। विजली की चमक में जिन्हें उसने पहाड के नीचे देखा था, भीगी मिट्टी में उन्हीं के पैरों की छप-छप ध्वनि अव सन्निकट आ रही थी। सुषमा को छोडकर भागना मुश्किल नही था। किन्तु उसे छोडकर जानेको मन प्रस्तुत नही हो रहा था। फिर इस प्रकार छोड जाने का अभिप्राय होता श्रेष्ठी के सम्मुख हार मानना और वह हार मानेगा नही।

सज्ञाहीन सुषमा को धीरे-धीरे जमीन पर सुलाकर उसने कसकर तलवार पकडी। क्षणमात्र के लिए वन में खिले हुए वनफूल की सुगन्ध वहती हुई आयी और फिर न जाने कहाँ खो गयी।

चिलाती-पुत्र की दोनों आँखें जल उठी। फिर न जाने कव और

कैसे उसके हाथ की तलवार जा पडी सुषमा के गले पर। समस्त पथ रक्त से रग उठा।

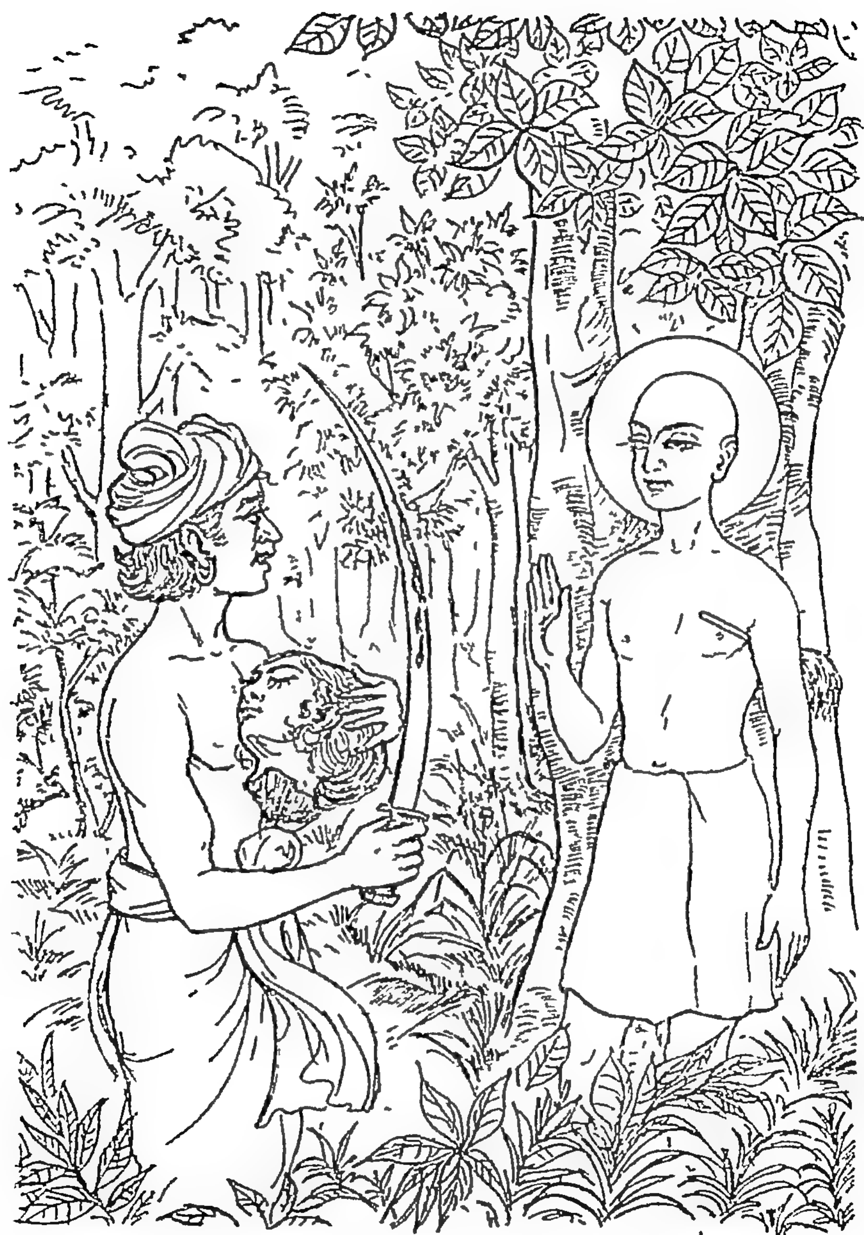
स्कन्ध रहित शरीर पडा था पगडण्डी के किनारे। और चिलाती-पुत्र सुषमा के कटे सिर को छाती से लगाए विलीन हो गया अरण्य के अन्धकार में।

श्रेष्ठी ज्योंही वहाँ पहुँचे, थमक कर खडे रह गये। विद्युत के क्षणिक आलोक में मेघ की काली छाया से घिरा पहाड उनकी दृष्टि में और भी भयकर काला हो उठा। अब आगे जाना व्यर्थ था, अतः वहीं से वे लौट गये।

उसी दुर्योगपूर्ण रात्रि के गहन अन्धकार में भी जगल में एक पेड के नीचे एक श्रमण ध्यानस्थ खडे थे। चिलाती-पुत्र उनके सामने आ खडा हुआ और बोला, बताओ धर्म क्या है? नहीं तो मैं तुम्हारा सिर धड से अलग कर दूँगा।

श्रमण ने पलकें उघार कर देखा। सम्मुख खडा था नगी तलवार लिए वीभत्स चिलाती-पुत्र। उनके मुखमण्डल पर प्रशान्त हँसी खिल उठी। उनकी दिव्यदृष्टि के सामने उसका बाहरी आवरण नहीं था। उस दृष्टि ने प्रवेश किया था चिलाती-पुत्र के उस अन्तर में जो कि विमूढ होते हुए भी प्रचण्ड शक्तिशाली था।

उस क्षण मेघ की भीषण गर्जन से वन रह-रहकर काँप रहा था। डैनों से झपट्टा मारते हुए पक्षियों की भाँति वृक्षों की शाखाएँ टूट-टूटकर गिर रही थी। तभी गहन वन के उस पार, दूर, बहुत दूर, न जाने किस की बाँसुरी बज उठी। मन व्याकुल सा हो गया। पख फडफडाते हुए पक्षियों



बताओ धर्म क्या है? नहीं तो मैं तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर दूँगा।

की भाँति ही वह भी मुक्त होना चाह रहा था संसार की जटिलताओं से, जजालो से।

महाश्रमण की उस दिव्यदृष्टि से चिलाती-पुत्र का समस्त अन्तर उसी प्रकार धुल गया जिस प्रकार चन्द्र रश्मियों मे धुल जाता है आकाश। उसने उनकी अमृतमयी वाणी सुनी—उपशम, सवर, विवेक। वह वाणी उतर गयी उसके हृदय की गहराई में, छा गई उसके तन-मन पर। हाथ की तलवार उसने दूर फेंक दी एव असावधानी वश छाती से चिपका मुण्ड गिर पडा धरती पर।

किन्तु श्रमण फिर दिखलायी नहीं पडे।

चिलाती-पुत्र का हृदय विस्मय से भर उठा। वह वहीं आकर खडा हो गया जहाँ पहले महर्षि खडे थे। प्रारब्ध के जिन सस्कारों ने उसे दुष्प्रवृत्ति द्वारा इस जघन्य कार्य के लिए प्रेरित किया था वह सस्कार क्षय हो गया। अतः हृदय में जाग पडी अनुशोचना, आत्मानुसन्धान।

सस्कारों को ही वह अब तक अपनी इच्छा मान बैठा था। और उसी इच्छा के वशीभूत होते हुए उसने निःसकोच होकर हत्या की थी, प्रफुल्लित होकर देखा था अनेकों को विनष्ट होते। आनन्दित हो उठता था नारियों की व्यथा के मर्मस्थल को आघात पहुँचाकर। वह सोचने लगा—कहाँ है तब क्रोध की उपशान्ति? कहाँ है तब रागद्वेष के प्रवाह का निरोध? कहाँ है शिवतम् रूप की अनुभूति? इसी भाँति आत्मविचार करते करते चिलाती-पुत्र समाधिस्थ हो गया।

चिलाती-पुत्र का समस्त शरीर रक्तारक्त था। उसी रक्त की गन्ध पाकर वन के भीषण चीटों का पक्तिबद्ध दल उस ओर आने लगा।

खोच-खोंचकर माँस नोचने के पश्चात् वे प्रवेश कर गये उसकी हड्डियो में, मज्जा में। माँसभक्षी पशु बाहर निकली हुई हड्डियों को दांतो से काटने लगे। नोच-नोचकर ले गये लटकती हुई शिराओं को, उपशिराओं को। किन्तु चिलाती-पुत्र था निस्पन्द, सांसारिक अनुभवों से रहित।

वह उस समय प्रतिष्ठित था सुख दु:ख से अतीत शान्ति के अक्षय अधिकार में।

कपिल

कोशाम्बी के राज पुरोहित जब पालकी पर आसीन होकर पथ पर निकलते तब कपिल की माँ की आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती।

यह देख कपिल ने एक दिन अपनी माँ से पूछा, माँ, तुम क्यों रोती हो ?

माँ ने कहा, बेटा, उस पालकी पर तुम्हारे आसीन होने की बात थी किन्तु जब तुमने लिखना-पढ़ना नही सीखा, मूर्ख ही बने रहे तब तुम्हारी जगह उस पालकी पर कोई दूसरा आसीन हुआ, इस लिए जब भी उस पालकी को देखती हूँ तो सहसा रो पडती हूँ।

कपिल लज्जित हो उठा। बोला, माँ, अब मैं लिखना-पढना सीखूँगा।

माँ ने कहा यह तो आनन्द की बात है। तुम्हारे ऊपर वे कीचड उछालते हुए जाते हैं यह सहा नही जाता।

तदुपरान्त लिखना-पढना सीखने के लिए कपिल श्रावस्ती चला गया, और आचार्य इन्द्रदत्त से पढना-लिखना प्रारम्भ किया।

वह पढने के लिए इन्द्रदत्त के यहाँ जाता और खाने के लिए श्रेष्ठी शालिभद्र के घर।

प्रथम तो कपिल ने अध्ययन में प्रगति की किन्तु बाद में वह एकाएक रुक गयी।

तरुणाई की अपरिमित चंचलतावश कपिल शालिभद्र के अन्तःपुर की किसी युवती से प्रेम करने लगा। अतः जब मुग्धबोध की पुस्तक लेकर उसे इन्द्रदत्त के सम्मुख बैठना पडता, उसका मन पुस्तक के पृष्ठों पर टिक नही पाता।

कपिल की यह अन्यमनस्कता इन्द्रदत्त के जिस दिन नजर में आयी उस दिन बाहर वर्षा हो रही थी। इन्द्रदत्त ने कपिल से पूछा, कपिल, इतना क्या सोच रहे हो ?

मेघ की छाया में, वर्षा की रिमझिम में, वह क्या सोच रहा था यह कहना कठिन था। तमाल वृक्ष की शाखा पर भींगे डैनेवाले पक्षी को देखकर उसे लगता था कि उस लडकी की बडी-बडी आँखें भी ऐसी ही अचचल हैं। किन्तु यह बात उन्हें कैसे बताता।

आचार्य ने उसकी भर्त्सना की।

कपिल का अभिमान जागा। उस दिन जो भोजन करने गया तो पुनः नही लौटा। जिस लडकी से वह प्रेम करता था उसे लेकर कही अन्यत्र चला गया।

अब शुरु हुई कपिल की नवीन जीवन यात्रा।

पर उन दिनो के प्रेम के साथ दिन प्रति दिन का प्रेम मिल न सका

कारण उस दिन भी वह असाधारण लड़की जब अत्यन्त साधारण वेश में उसके सामने आई।

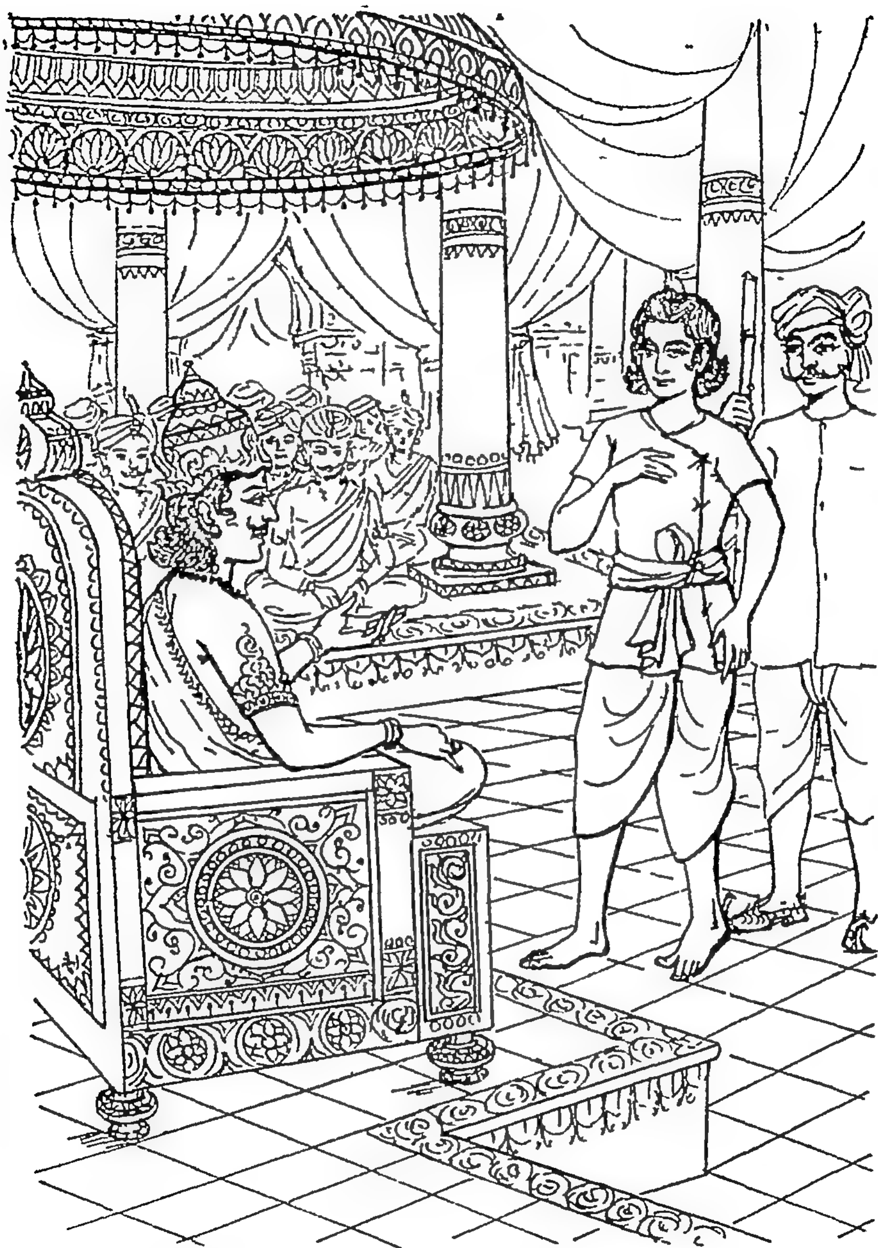
अतः जब उसने प्रेम के प्रतिदान में स्वर्णहार, पैरों की पायल एवं रक्तांशुक का परिधान माँगा तब कपिल को लगा कि यह प्रेम विरस की नीरसता को दूर करने का एक असफल सा प्रयास मात्र है। उसका मन उसकी अतृप्ति में बोझिल हो उठा। मन ही मन सोचने लगा, कितना छोटा है उसका हृदय!

दिन भर अथक परिश्रम के पश्चात् कपिल घर लौटता। किन्तु ला न पाता स्वर्णहार, एक जोड़ी पायल एवं रक्तांशुक के परिधान।

तभी उसने धन श्रेष्ठी की चर्चा सुनी। सबेरे पहले जो उनके द्वार पर पहुँचता है उसे वे दो माशा स्वर्ण दान करते हैं। कपिल को लगा जैसे पूरब में नीले पहाड़ की चोटी पर सूर्योदय हो रहा है। देवदारु की शिशिर कणों से भीगी पत्तियों की झालर से छनकर आती हुई किरणें जैसे प्रिया के गले में पहने हुए स्वर्णहार पर झिलमिला रही हैं। उसके पैरों में पायल एवं रक्तांशुक के घूँघट में उसके सुन्दर मुखमण्डल पर सलज्ज हँसी की आभा निखर आई है। उस रात कपिल सो न सका। अतः तारों से भरी अन्धेरी रात्रि में वह निकल पड़ा।

उस रात अन्धेरी राह पर वही एक मात्र राही था। एतदर्थ कोतवाल ने न जाने क्या सोचकर उसे पकड़ लिया एवं दूसरे दिन उसे राजसभा में उपस्थित किया।

उसकी समस्त बातें सुन कर राजा ने कहा, कपिल मैंने तुम्हें मुक्त कर दिया। बोलो अब तुम्हें क्या चाहिए?



मैंने तुम्हें मुक्त कर दिया। बोलो अब तुम्हें क्या चाहिए?

यह सुनकर कपिल सोचने लगा वह राजा से स्वर्णहार, एक जोड़ी पायल एवं रक्तांशुक के परिधान क्यों न माँग ले ? किन्तु तभी विचार आया जब राजा से ही माँगना है तब इतना ही क्यों माँगे। दैनन्दिन जीवन-यात्रा के धूलि-धूसरित दारिद्रय को मिटा देने के लिए उसे चाहिए अधिक, बहुत अधिक, हो सकता है यह समस्त राज्य भी।

राजा ने पुनः प्रश्न किया, कपिल! क्या चाहिए तुम्हें ?

कपिल कहने जा रहा था कि समस्त राज्य, किन्तु, हठात् वह रुक गया। क्या माँगना चाहता है वह ? समस्त राज्य ? क्षण मात्र के लिए कपिल की दृष्टि से प्रकाश पर आया हुआ आवरण सरक गया।

वह सोचने लगा, हमारे समस्त दुःखों का उद्गम ही तो है यही कामना और यदि इस कामना को ही अ-कामना में रुपान्तरित किया जाय तो सर्व कामनाएँ एकबारगी ही शेष हो जायँ और तभी प्राप्त होगा वह आनन्द, जिस आनन्द की कोई सीमा नहीं।

राजा ने फिर प्रश्न किया, बोलो कपिल! तुम्हें क्या चाहिए ?

कपिल राजा की ओर देखने लगा। बोला, अब मुझे कुछ नहीं चाहिए।

इसके बाद फिर कपिल घर नहीं लौटा। जो राह पर्वत के बगल से घने वन की ओर विस्तृत थी, उसी राह पर वह चल पड़ा।

आर्द्रककुमार

अनार्य देश के राजपुत्र की ओर से जब भेंट आयी तब मगध राजकुमार ने न जाने क्या सोचकर भगवान ऋषभदेव की छोटी-सी स्वर्ण-प्रतिमा आर्द्रककुमार को भेज दी।

अनार्य आर्द्रककुमार ने विभिन्न प्रकार मे अनेक वार उस प्रतिमा को देखा। किन्तु कुछ निश्चय नही कर पाया कि इसे लेकर वह क्या करे। वह वार-वार यही सोच रहा था कि यह किस अंग का अलंकार है।

ऐसा सोचते-सोचते अचानक उसकी दृष्टि प्रतिमा पर स्थिर हो गयी। उस क्षण आर्द्रककुमार का समस्त सत्व जैसे एक साथ बोल उठा, इन्हें मै जानता हूँ। उस समय कही भी उसकी दृष्टि में अस्वच्छता नही थी।

देश-काल की सीमा को पारकर जिस दिन मनुष्य निरवछिन्न मैं को देखता है उस दिन स्थिर नही रह पाता। उसे यह ससार असह्य प्रतीत होता है।

आर्द्रककुमार का भी वही हाल हुआ। उसने कहा, मै श्रमण दीक्षा लूँगा। मै भारतवर्ष की यात्रा करूँगा।

किन्तु जाऊँगा बोलने से ही कुछ नही हो जाता। जाने के लिये अनार्यराज की अनुमति आवश्यक थी।

आर्द्रककुमार को पिता की अनुमति नही मिली।

उन दिनों समुद्रपथ से यातायात सुगम था। इसके लिए अनार्यराज की अनुमति आवश्यक थी। किन्तु जब उन्हे अनुमति नही मिली तो स्थल पथ से ही उसने भारतवर्ष जाने का निश्चय किया। चाहे वह पथ कितना ही दुर्गम क्यों न हो।

किन्तु आर्द्रककुमार की इस भावना में भी बाधा आयी। अनार्यराज ने केवल मुह से ही ना नही किया था बल्कि आर्द्रककुमार ने देखा कि जहाँ भी वह अब जाता है घोडे पर चढकर लोग उसके साथ जाते हैं।

ऐसा ही है ससार का मायाजाल। आर्द्रककुमार सोचने लगा, कैसी विडम्बना। किन्तु मुह से उसने कुछ नही कहा मानो इस परिस्थिति को जैसे उसने स्वीकार कर लिया।

तत्पश्चात दिन बीते, महीने बीते। आर्द्रककुमार निश्चेष्ट एव निश्चिन्त था। कितनी बार ऐसा हुआ कि आर्द्रककुमार घोडे पर खूब दूर जाकर पुनः लौट आया।

उनलोगों ने सोचा कि श्रमण होने की वह भावना अब एकदम फीकी पड गयी। वह केवल एक विलास था। भला राजपुत्रों को क्या शोभा नहीं देता। अतः उनके कार्य में शैथिल्य आ गया।

आर्द्रककुमार ने देखा कि यही अवसर है। तदुपरान्त एक दिन वह सबके अनजाने में भारतवर्ष की ओर चल पडा।

वसन्तपुर के उद्यान में उस दिन श्रेष्ठी कन्या अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी।

दिगन्त में उस दिन प्रथम श्रावण का आगमन हुआ था। उसी की छाया मानो घनीभूत होकर श्रेष्ठी कन्या की काली-काली आँखो में उतर आयी थी।

उस ओर देखकर सहेलियो ने न जाने क्या सोचा। फिर बोल पड़ी, आओ, जिसे जो पसन्द आये, वह उसको वरण कर ले।

किसी ने वरण किया लता को, तो किसी ने वरण किया वनस्पति को और उस लडकी ने वरण किया आर्द्रककुमार को।

आर्द्रककुमार का ध्यान भंग हुआ। वह उस लडकी की तरफ अवाक होकर देखने लगा। फिर उठकर चल दिया। उस दिन किसी ने भी न उसके जाने में बाधा दी, न पूछा कि आप कहाँ जा रहे हैं।

इसके बाद जब वह लड़की बडी हुयी, लोग उसका सम्बन्ध लेकर आने लगे। उस लडकी ने न जाने क्या सोचा और एक दिन श्रेष्ठी के पास आकर बोली, पिताजी, मेरा विवाह किसी के साथ नही हो सकता। क्योकि, जब मैं छोटी थी तभी मैने वरण कर लिया था एक श्रमण को।

सारी बात सुनकर श्रेष्ठी हँस उठे। बोले, अरे, वह तो अनजान में किया गया एक खेल था।

किन्तु श्रेष्ठी ने इस घटना को जितनी छोटी समझा था, वह उतनी छोटी नही थी। उन्हें अपनी भूल तब प्रतीत हुयी जबकि उस लडकी ने

जवाव दिया, उससे क्या हुआ ? लडकियाँ अपना वर दुवारा वरण नहीं करती ।

श्रेष्ठी अव चिन्ता में पड गये । अपरिचित श्रमण को अव वे ढूँढें भी ता कहाँ । और ढूँढ़ने से ही क्या होगा ? क्या वह उनकी लडकी को लेकर पुन. ससार वमायेगा ?

श्रेष्ठी को चिन्तित देखकर लडकी ने कहा, पिताजी, आप चिन्ता न करें । आप केवल एक अतिथिशाला खुलवा दें । वरण करते ममय मैंने उनके पैरो में पद्मचिह्न देखा था । वह मुझे अव भी याद है । अतिथिशाला में जितने भी श्रमण आयेंगे, उनके पैरो को देखकर पद्मचिह्न द्वारा मै उन्हें अवश्य पहचान लूँगी ।

श्रेष्ठी ने दीर्घ नि.श्वास लेते हुये कहा, वे श्रमण फिर लौटेंगे, यह निश्चित थोडे ही है ?

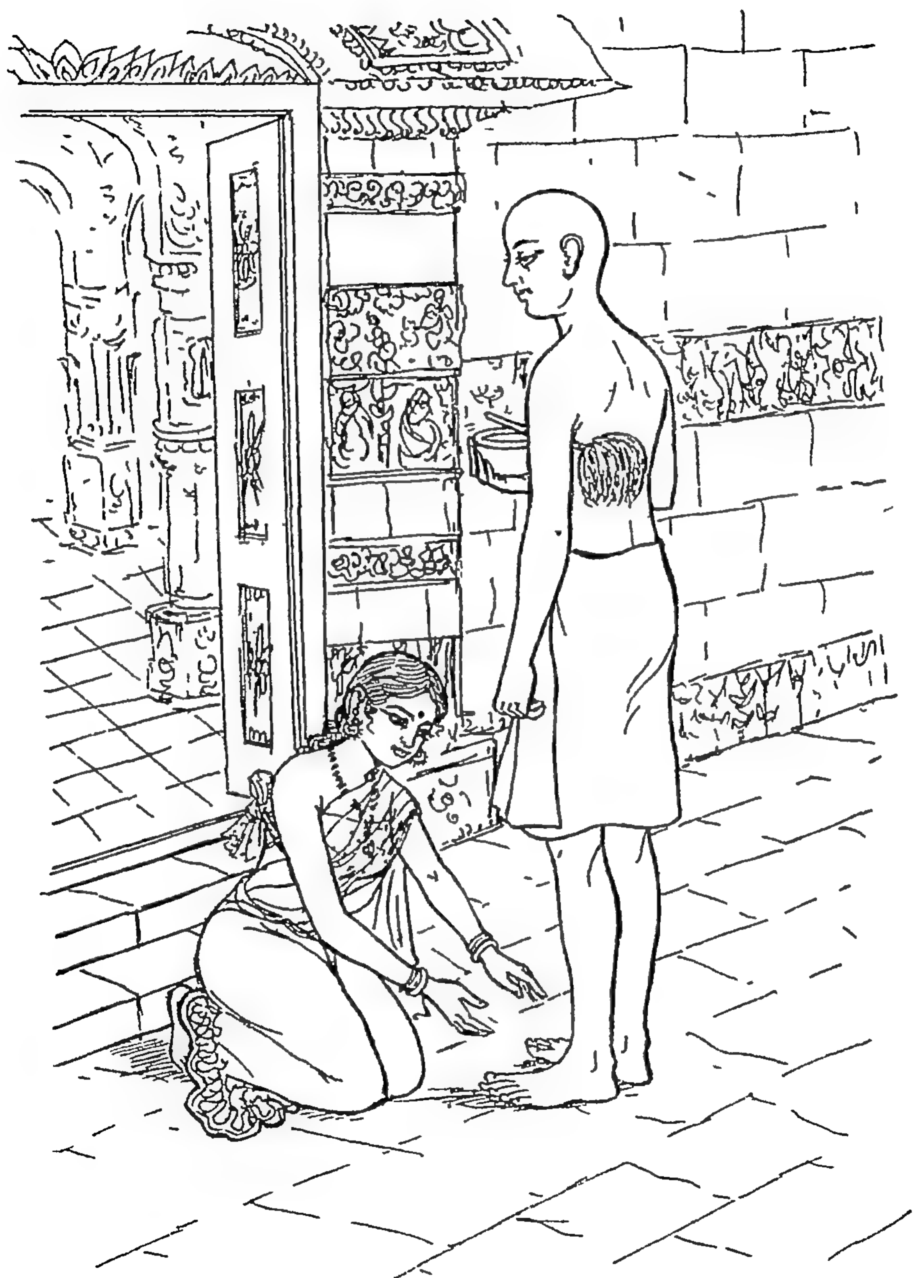
लडकी ने कहा, मेरा मन कहता है कि वे अवश्य आयेंगे ।

कोई दूसरा उपाय भी तो न था । अतः श्रेष्ठी ने अतिथिशाला खुलवा दी ।

इसी प्रकार दिन व्यतीत होने लगे ।

तदुपरान्त एक दिन आर्द्रककुमार उस अतिथिशाला में आया । उसके पैरों में पद्मचिह्न देखकर लडकी सहसा वोल उठी, मुझे मिल गये ।

आर्द्रककुमार चौक उठा । इस लडकी की वात तो वह भूल ही गया था । धीरे-धीरे सारी वात उसे स्मरण हो आयी । वह केवल एक ही श्रावण सध्या की वात नहीं थी एक और दूसरी श्रावण संध्या की भी



पैरों में पद्मचिह्न देखकर बोल उठी, मुझे मिल गये ।

वात थी । किन्तु उस श्रावण सध्या एव इस श्रावण संध्या में एक जन्म का व्यवधान था ।

यद्यपि उस जन्म में यह लडकी उसकी सहधर्मिणी थी, फिर भी उसे सन्निकट पाने का कोई उपाय नही था । इसमें वाधक था श्रमण धर्म । इसी धर्म के मोह में उसने अपने निज स्वभाव को अस्वीकृत कर दिया था । विवेक जात वैराग्य से वह उसे जीत नही सका । निरसन नही कर पाया भोग के द्वारा उस कामना को । उसी कामना के कारण उसका जन्मान्तर हुआ । इसीलिये जव उस लडकी के आँसुओ से उसने अपने हृदय को पिघलते हुए देखा तो उस कामना का स्वरूप उसके सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठा ।

आज धर्म का मोह नही है उसे । जव वह यह अच्छी तरह समझ गया कि इस कामना को विवेक से उत्पन्न वैराग्य से जय करना सम्भव नही है तव उसने उसे साथ लेकर घर वसा लिया ।

वहुत दिन व्यतीत हो गये । एक दिन आर्द्रककुमार ने सोचा कि अव उसे ससार से मोह नही है, अव ससार त्याग किया जा सकता है । किन्तु तव भी उसका कुछ भोग वाकी था । अत॰ वह उस दिन भी ससारका परित्याग नही कर सका ।

आर्द्रककुमार चला जायगा, यह सुन कर वह लडकी चरखे पर सूत कातने वैठी । माँ को सूत कातते देखकर पुत्र आया और वोला, माँ, तुम सूत क्यों कात रही हो ?

माँ ने जवाव दिया, वेटा, तुम्हारे पिता घर छोडकर जा रहे हैं ।

यदि मैं सूत न कातूँगी, तो निर्वाह कैसे होगा ? इसीलिये सूत कात रही हूँ।

माँ की बात सुनकर लडके ने कुछ सोचा। फिर कुछ ठहर कर बोला, माँ, तुम चिंता मत करो। मैं पिताजी को बाँधकर रख लूँगा। इसके बाद सचमुच ही वह कच्चे सूत से आर्द्रककुमार को बाँधने लगा।

उन कोमल हाथों के स्पर्श एव चपल हास्य ने आर्द्रककुमार को पल भर में ही उन्मना बना दिया। उसने देखा कि अभी भी उसका भोग शेष नही हुआ है। तब वह और बारह वर्ष घरमें रह गया।

तत्पश्चात बारह वर्ष व्यतीत होते ही उसका संसार ख़त्म हो गया। ससार खत्म होते ही वह पूर्ण निरासक्त भाव से राजपथ पर आ खडा हुआ ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उर्वारक स्वतः ही अपना तना छोड देता है।

आर्द्रककुमार अपनी राह पर चला जा रहा था। वह राजगृह के समीप पहुँचा ही था कि हस्ती-तापसो का शृङ्खलाबद्ध एक हाथी शृङ्खल तोडकर उसकी ओर दौडा। सभी ने सोचा अब आर्द्रककुमार नहीं बच पायेंगे। किन्तु क्या आश्चर्य। वह हाथी आर्द्रककुमार के चरणों में अपना सिर झुकाकर वन की ओर चला गया।

राजगृह की राजसभा में जब यह खबर पहुँची तो राजा श्रेणिक तुरन्त ही आर्द्रककुमार के पास आये और प्रणाम करते हुए बोले, हे आर्य! इसका क्या तात्पर्य है ?

आर्द्रककुमार हँस पडा। फिर अपनी सारी कथा सुनाकर बोला, मानव तो चिरकाल से ही मुक्त है। वह तभी बन्धन में है जब अपने

को वन्धनयुक्त मानता है। यही है वह कच्चे सूत का वन्धन। किन्तु मनुष्य किसी भी प्रकार अपने को मुक्त अनुभव नहीं करता। इसीलिये कच्चे सूत का वन्धन भी उसके लिये लौह-शृङ्खल से भी मजबूत हो जाता है। मुझे वन्धन मुक्त देखकर हाथी ने विचार किया कि मैं वन्धन मुक्त हूँ। और मैं वन्धन मुक्त हूँ यह विचार आते ही हाथी शृङ्खल तोडकर अरण्य की असीम मुक्ति की ओर चला गया।

मनुष्य सचमुच ही जिस दिन यह अनुभव करेगा कि मैं वन्धन मुक्त हूँ उसी दिन वह मुक्त है।

सनत्कुमार

सनत्कुमार चक्रवर्ती राजा थे। उनका शासन अत्यन्त कठोर था। कितने ही नरेश एव सामन्त उनके अधीन थे, जिनके किरीट रत्नों की आभा से उनके चरण चर्चित होते रहते थे।

किन्तु सनत्कुमार की ख्याति उनके चक्रवर्तीत्व के कारण नही वल्कि रूप के कारण थी। उनके रूप की किसी से तुलना नही की जा सकती थी। उस अतुलनीय रूप को जो भी देखता उसके विस्मय की सीमा नहीं रहती।

सनत्कुमार के इस रूप की ख्याति केवल मृत्यु लोक की सीमा में ही आवद्ध न रहकर स्वर्गलोक तक पहुँच गई। देवराज इन्द्र एक दिन सनत्कुमार के रूप की प्रशसा करते-करते सहसा कहने लगे, ऐसा रूप तो देवताओं में भी नही देखा जाता। इस कथन को सुनकर दो देवकुमारों को उस अनुपम रूप को देखने का कौतूहल जाग्रत हुआ। वे उस रूप को देखने मृत्युलोक आये।

जिस समय देवकुमार मृत्युलोक पहुँचे, सनत्कुमार उस समय स्नान करने वैठे ही थे। अतः उनका शरीर निरावरण था। किन्तु उससे क्या हुआ? उनके शरीर की उस कान्ति को देखकर देवकुमारों के मुख से

अनायास ही निकल पडा, क्या यह शरीर का वर्ण है? नहीं नहीं, यह तो प्रभातकालीन स्वर्णिम रश्मियों की चमक है। वे देवकुमार विस्मित हो अपलक उस ओर देखते ही रह गए।

उनके विस्मय को मन ही मन अनुभव करते हुए सनत्कुमार अपने रूप के अभिमान में कहने लगे, अभी आपने मेरा रूप देखा ही क्या है? स्नान के पश्चात् जव मरकत मणियों का वीस लडा हार पहनकर राजसभा में वैठूँगा तव आप मुझे देखियेगा।

इस वात को सुनकर देवकुमार कुछ लज्जित से हो गये एव उन्हे फिर एक वार देखने के लिए राज सभा में उपस्थित हुए।

जैसे ही वे राजसभा में पहुँचे सनत्कुमार ने उन्हें पुकार कर अपने पास बुलाया और पूछा, कहिये! क्या देखा?

देखा सरोवर में खिला हुआ सहस्र-दल कमल!

यह सुनते ही आत्म परितृप्ति का हास्य सनत्कुमार के अधरों पर फूट पडा। उन्होंने देवकुमार को अपने समीप वैठने को स्थान दिया।

सनत्कुमार तो वातें करते जा रहे थे किन्तु देवकुमार रह-रहकर कुछ कष्ट सा महसूस कर रहे थे। प्रथम तो सनत्कुमार समझ नही सके। किन्तु वाद में देवों की अवस्था उनसे छिपी न रह सकी, आखिर पूछ ही वैठे उस अवस्था का कारण।

देवकुमारों ने इस प्रश्न को टालने की चेष्टा की। किन्तु इधर था सनत्कुमार का अपरिसीम आग्रह। अत. प्रत्युत्तर देने को वाध्य होना पडा। उन्होंने धीमे स्वर में कहा, महाराज! यह तो हमें एक स्वर से स्वीकृत करना होगा कि आपका अलौकिक सौन्दर्य देखकर हम मुग्ध हो

गये हैं। किन्तु यह सौन्दर्य जिस देह के आश्रित है वह देह चाहे कितनी ही सुन्दर क्यो न हो, मनुष्य देह ही हे। उसका सव कुछ रक्त और माँस से ही निर्मित है। मानव शरीर की एक स्वाभाविक गन्ध होती है, वही गन्ध हमें पीडा पहुँचा रही है।

सनत्कुमार के नेत्रो की दृष्टि विस्फारित हो उठी। विस्मत दृष्टि को विस्तारित करते हुए उन्होंने प्रश्न किया, क्या गन्ध? मुझे तो कोई गन्ध नही आ रही?

देवकुमार हँसते हुए कहने लगे आपको वह गन्ध कैसे आयेगी? आप तो उस गन्ध के अभ्यस्त हो गए हैं।

तत्पश्चात् कुछ अधिक वात न हो सकी। वे देवकुमार भी शीघ्र ही विदा लेकर चले गए।

वे तो चले गए किन्तु सनत्कुमार के मन में एक नवीन भावना छोड गये। उनकी वातों ने एक क्षण में ही सनत्कुमार के रूप के गर्व को चूर-चूर कर दिया। अतः विचलित हो वे सोचने लगे जिस सौन्दर्य ने उन्हें इतने दिनों तक मुग्ध कर रखा था, मूढ वना रखा था, वह कितना असार है। जिस देह का इस सौन्दर्य ने आश्रय ले रखा है, उसका उपादान तो रक्त माँस जैसी कुत्सित वस्तुएँ ही तो हैं। एक कानी-कौडी भी तो इस देह की कीमत नही। जिस दिन यह देह ही नही रहेगी उस दिन कहाँ रहेगा यह सौंदर्य और कहाँ रहेगा उसका अभिमान? और समय? वह भी कभी टिक-कर नहीं रह सकता। क्षण-क्षण आगे ही वढ़ता हैं और शरीर को जीर्ण कर देता है। हो सकता है इस जीर्णता का वोध आज हमें न हो किन्तु जीर्ण नहीं हो रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पेड

का वह पत्ता जो कि खड़-खड़ करता हुआ हवा में उड़कर जल में गिर पड़ा एवं जल प्रवाह में प्रवाहित हो गया, वह कब से पीला पड़ने लगा था? प्रथम दिन से ही तो? बस, ऐसा ही है मानव जीवन और मानव यौवन। वह भी तो पेड़ के उस सूखे पत्ते की भाँति ही काल के प्रवाह में प्रवाहित होकर न जाने कहाँ चला जाएगा।

तदुपरान्त दिन बीते, रातें बीतीं। किन्तु सनत्कुमार के हृदय को वही एक भावना मथती रही। राज्यकार्य में उनका मन नहीं लगता था, हर कार्य में उनसे भूल होने लगी।

तब कितनी रात थी? जबकि पूर्णिमा का चाँद पश्चिम दिशा की ओर ढल चुका था। एवं उसका रुपहला आलोक उनकी शय्या पर बिखरा हुआ था। सनत्कुमार उठकर खड़े हो गए। चन्दन काष्ठ से निर्मित गृह-द्वार को खोलकर घर के बाहर आए। सर्वत्र व्याप्त श्वेत ज्योत्स्ना को कुछ देर निहारते रहे। जल-और स्थल धरती और आकाश में जैसे कोई भेद नही था। तदुपरान्त जो पथ पहाड़ और वनों की ओर विस्तृत था उसी पथ पर चलते हुए वे आगे बढ गए।

उसके बाद कठोर तपस्या प्रारम्भ की। वह सुन्दर शरीर जीर्ण हो गया। उस उपवास क्लिस्ट क्षीणता में विलुप्त हो गया वह सौन्दर्य। रोगग्रस्त हो गई वह देह। किन्तु जो सौन्दर्य असार है, उस सौन्दर्य से, उन्हें अब कोइ प्रयोजन नहीं, उन्हे तो आकाक्षा है सत्य सौंदर्य की।

तपश्चर्या में दिन बीते रातें बीती। दूर से झरने की कलकल ध्वनि प्रवाहित हो आती, वट वृक्षो के पत्तों का मर्मर हवा में विस्तृत



रूप १ रूप तो मैंने प्राप्त किया था, अब मुझे चाहिये अरूप ।

होता। अरण्य के पत्र पल्लवों के मध्य से रात के तारे झाँका करते। आकाश का प्रकाश धरती की छाया का आलिंगन करता।

सनत्कुमार को देखने एक बार पुनः वे देवकुमार आए। इस बार राज सभा में नहीं, वन में। वे सनत्कुमार की कंकाल मात्र देह को देखकर खिन्न हो उठे। कहने लगे कि वे उनका पूर्व रूप लौटा सकते हैं।

इस बात को सुनकर सनत्कुमार हँस पड़े। तदुपरान्त दाहिने हाथ का अंगूठा मुँह में डालकर उनके सामने कर दिया। अंगूठे का वर्ण था अरुणोदय की रक्तिम् आभा-सा, जिसमें से उज्ज्वलित प्रभा विकीर्ण हो रही थी।

देवकुमार सनत्कुमार के जिस रूप को देखकर कभी विस्मित हुए थे, उसी रूप को देखकर आज एक बार फिर विस्मित हो उठे। सनत्कुमार के अधरों पर स्मित-हास्य था। वे धीरे-धीरे कहने लगे, रूप? रूप तो मैंने प्राप्त किया था, अब मुझे चाहिये अरूप।

मेतार्य

चण्डालिनी अब अपने को और रोक न सकी। विवाह-घर की भीड को चीरती हुई वह वहाँ आ पहुँची जहाँ एकान्त में बैठा मेतार्य सप्तपदी की प्रतीक्षा कर रहा था।

श्वेत आवरण से ढँकी हुई शय्या, जिस पर बिखरे थे राशि-राशि कुन्दफूल और उन कुन्दफूलों पर झर रही थी कार्तिक-पूर्णिमा की दुग्ध-धवल ज्योत्स्ना।

इसे देखकर चण्डालिनी ने न जाने क्या सोचा, फिर बोली, मेतार्य मैं तुम्हे लेने आयी हूँ।

तभी उधर से आवाज आयी, क्या कहा?

साथ ही श्रेष्ठी स्वय आते हुये दिखायी दिये।

तुम्हारी इतनी हिम्मत!

चण्डालिनी जरा पीछे हटी और दीवाल से सटकर खडी हो गई उसका मुँह खुल न सका क्योंकि जिस अधिकार से वह मेतार्य को लेने आयी थी वह अधिकार वह स्वय ही एकदिन खो बैठी थी किसी और के लिये और वह भी स्वेच्छा से। सतरह वर्ष पूर्व की बात, जिसको दो व्यक्ति के सिवाय तीसरा कोई नही जानता था, भला अब कौन

विश्वास करेगा उस पर ? फिर भी साहस बटोरते हुये बोली, हाँ, लेने आयी हूँ।

लेने आयी हो ? जाओ। चली जाओ। मै कहता हूँ तुरन्त चली जाओ यहाँ से।

शोरगुल सुनकर घर के लोग एकत्रित हो गये। सभी पूछने लगे, क्या हुआ ?

होगा क्या ? जरा इस चण्डालिनी की हिम्मत तो देखो।

इतना क्रोध मत कीजिए सेठ। श्रेष्ठी की बात को बीच में काटते हुए मेतार्य की ओर देखकर वह बोल पडी, जानते है वह कौन है ? वह मेरा लडका है। बार-बार मरे हुए बच्चे को जन्म देने के कारण उसी दिन इसको माँग लिया था उसने जिस दिन यह जन्मा था।

सेठ हँस पडा। फिर जरा सम्हलते हुये बोला, छोडिए इसकी बात। यह तो पगली है।

नही, मैं पगली नही हूँ। यदि विश्वास नहीं है तो पूछ लो इसकी माँ से।

किन्तु माँ से इसका कोई स्पष्ट उत्तर नही मिला।

इसके बाद पूर्णिमा का चाँद मध्य आकाश पर चढ आया, किन्तु श्रेष्ठी के नौबतखाने में शहनाई का मधुर स्वर गूँज न सका।

चण्डालिनी के साथ मेतार्य उसके घर आया। छोटे-छोटे लकडी के तख्तों से बना था वह घर, जिसमें पक्षियों का घोंसला था। पिछवाडे में था ऊबड-खाबड मैदान, जहाँ सूअर चर रहे थे।

चण्डालिनी ने घर के भीतर बिछे हुये आसन पर मेतार्य को बैठाकर समस्त रात्रि उसके मुख को निहारते हुये व्यतीत कर दी।

सुबह होते ही मेतार्य घर के बाहर आ खड़ा हुआ। वेडे से लिपटी अनाम लता में खिले हुये अजस्र नीले फूलों को एकटक देखता रहा। ऐसा प्रतीत होता था मानो फूलो की नीलिमा एव आकाश की नीलिमा मे जैसे होड लगी है। यह दृश्य उसके लिये अभूतपूर्व था। फिर न जाने क्या सोचकर सामने के मार्ग पर वह चल पडा।

सन्ध्या की रिमझिम हवा में झरे हुये पत्तों के दीर्घ निःश्वास से वन का वातावरण जब व्याकुल हो उठा, तब भी मेतार्य घर नही लौटा तो दुःख एव झल्लाहट के मारे चण्डालिनी पानी का घडा वही पटककर घर लौट आयी और मन-ही-मन सोचने लगी, सिर्फ मैं लज्जित ही हुई।

फिर बहुत दिनों तक मेतार्य का कोई पता न चला।

उसके बाद मेतार्य लौटा। सन्ध्या के समय तारों की जगमगाती हुई रोशनी में जब दीपावली सी प्रतीत हो रही थी, वह आ खड़ा हुआ राजा के सम्मुख।

राजा ने कहा, कौन हो तुम ? क्या चाहिये तुम्हें ?

मैं मेतार्य हूँ। मुझे राजकन्या चाहिये।

यह सुनते ही राजा का चेहरा लाल हो उठा। दग रह गये उसके दुस्साहस पर। सोचने लगे, इसे तो वृक्षो से बाँधकर कोड़ो से पिटवाया जाय। किन्तु मुख से यह नही निकल सका। कहने लगे, राजकन्या के लिए क्या मूल्य दोगे तुम ?

मेतार्य ने कहा, जो आप चाहेंगे।

राजा बोले, आज ही रात भर में राजगृह के चारों ओर पत्थर की दीवार खडी करनी होगी। वरना कल सवेरे धड पर तुम्हारा सिर नही रहेगा।

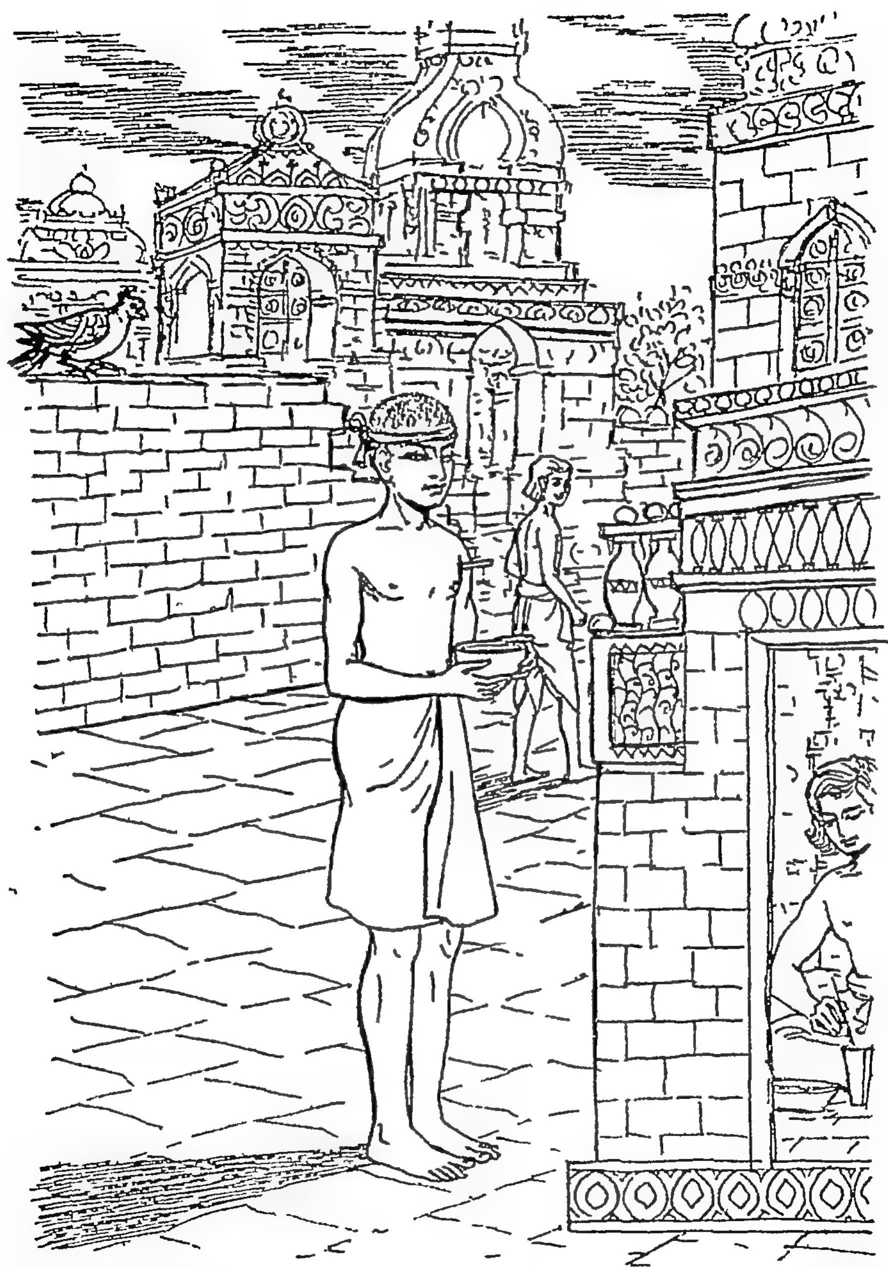
राजा मेतार्य से पराजित हुए।

राजकन्या को प्राप्त कर मेतार्य ने नया घर बसाया। उस दिन विवाह की रात्रि में चण्डाल समझ कर जो लोग लौट गये थे वे भी एक-एक कर अपनी पुत्रियों के साथ आये। फिर शहनाई गूँज उठी। धीरे-धीरे अनेको कुटुम्बों से घर भी भर गया।

घर त्याग कर मेतार्य जिस दिन चला गया था वन में, उस दिन निर्जन वन के सघन वृक्षों की छाया में वह ध्यान करने बैठा था। उसने निश्चय कर लिया था कि चण्डाल होने के नाते जिस प्रतिष्ठा से उसे वञ्चित होना पडा उसे वह पुनः अवश्य प्राप्त करेगा।

अपनी इस साधना में लीन रहा वह तीन वर्ष। इसी बीच उसने यह अनुभव प्राप्त किया कि स्वय में कितना आनन्द निहित है। अतः प्राप्त प्रतिष्ठा अब उसे पानी की तरह फीकी लगी। अन्तर्मन में न जाने कौन कह उठा, समस्त उन्मत्त लय जहाँ आ मिलते हैं उसी मूल स्वर को मैंने बाँध रखा है, जो कि प्राणो का आदि स्वर है।

उस अव्यक्त की आकुलता ने मेतार्य को घर मै स्थिर रहने नही दिया। वह पुन' घर से निकल पडा। किन्तु इस बार प्रतिष्ठा के लिये नहीं, आनन्द में लीन होने के लिये।



वह पट्टी भी धीरे-धीरे सिकुड़ कर ललाट पर कसती गयी।

तदनन्तर [illegible] पर भिक्षु के रूप में [illegible] मेतार्य था। [illegible] हाथ में था भिक्षापात्र।

किन्तु मेतार्य [illegible] स्वर्णयव [illegible] पाखण्ड मन के अन्दर किंचित् भी नहीं हुआ। धन्य भिक्षु का ऐसा अभिज्ञान !

किन्तु दैवयोगसे उसी समय [illegible] पक्षी [illegible] उड़ता। स्वर्णयवों का अपनी चोंच में लेकर सामने की भींत पर जा बैठा। संयोगवश उसके जाते ही [illegible] भिक्षु मेतार्य।

भिक्षा लेकर आते ही जब सुनार ने स्वर्णयवों को नहीं पाया, तो तुरन्त पूछ बैठा, यहाँ कोई आया था क्या भगवन्?

टूटी हुई दीवार पर अभी भी वह पक्षी आनन्द-विभोर हो निश्चिन्त-सा बैठा था। मेतार्य सब कुछ जानते हुये भी चुपचाप खड़ा रहा। उसने सोचा, यदि सारी घटना बतलाता तो स्वर्णकार पथ के लिये पक्षी को मार डालेगा।

सुनार ने फिर पूछा किन्तु मेतार्य देवदारु की छाया से घिरे हुए टेढ़े-मेढ़े पथ को ओर दृष्टि किए पूर्ववत चुपचाप खड़ा रहा। सोचने लगा, आवागमनमय इस संसार में स्वर्णयव का इतना क्या महत्त्व है?

सुनार ने सोचा, यह कार्य भिक्षु का ही है अतः इसे सजा देनी होगी।

उसने चमड़े की एक पट्टी को पानी में भिगोकर मेतार्य के ललाट पर कसकर बाँधते हुये कहा, स्वर्णयव लेने की यही सजा है।

मेतार्य ने सोचा, जब किसी न किसी को तो सजा मिलनी ही है तो फिर अच्छा हो कि मुझे ही मिले ।

शनैः-शनैः सूर्य सिर पर चढ आया। वह पट्टी भी धीरे-धीरे सिकुड कर ललाट पर कसती गयी। उस असह्य पीड़ा से ऐसा लगा कि कि आखें वाहर आ जायेंगी। किन्तु मेतार्य के चेहरे पर खिन्नता की क्षीण रेखा भी नही थी ।

आने-जाने-वाले राहियों में कोई जरा व्यग से होठ विचका कर चला गया एव कोई खिलखिलाकर हॅसते हुये कह उठा, अच्छा तो आप भिक्षु हैं ?

किन्तु इस व्यग में मेतार्य को वही आनन्द प्रतीत हुआ जिससे पृथ्वी की शुष्क धूल भी मधुमय है ।

इसके वाद सचमुच एक ऐसा समय आया जवकि मेतार्य की दोनों आँखें निकल आयी और वह गिर पड़ा ।

उसके गिरने की आवाज से पक्षी चौक उठा एव सव स्वर्णयव पक्षी के मुह से धरती पर गिर पडे ।

सुनार ने एक वार मेतार्य की ओर एव एक वार यव की ओर देखा। उस चिलचिलाती हुयी धूप में पृथ्वी उसे प्रेम की पीड़ा से परिपूरित लगी। एक पक्षी के लिये इतनी व्यथा ? यह सोचकर उसका मन विस्मय से भर उठा ।

अव सुनार घर में न रह सका। मेतार्य का भिक्षा-पात्र हाथ में ले वह उसी दिशा की ओर चल पड़ा जिस दिशा से मेतार्य आये थे ।

धन्य और शालीभद्र

श्रेणिक की राज सभा में रत्नकम्बल लेकर एक वणिक आया। राजा ने कम्बल को हाथ में लेकर देखा। बोले, क्या गुण है इस कम्बल में? हाँ, भार तो बिल्कुल नही है।

वणिक ने कहा, यह तो सत्य है, किन्तु भार ही तो सब कुछ नही है।

राजा ने कहा, तब और क्या है?

वणिक मुस्कराते हुए बोला, इससे जिस प्रकार सर्दी दूर होती है उसी प्रकार गर्मी भी।

राजा ने रत्नकम्बल अन्तःपुर में भेजा। कम्बल देखकर उसके विषय में सब कुछ सुनकर पटरानी चेलना ने छत्रधारिणी से राजा को कहलाया, यह कम्बल उन्हे चाहिये ही।

किन्तु राजा वह रत्नकम्बल खरीद नही सके। इस रत्नकम्बल को खरीदने के लिये जितनी मुद्राओं की आवश्यकता थी उतनी मुद्रा एक रत्नकम्बल के लिए व्यय करने की शक्ति मगध के राजकोष की नही थी। अतः श्रेणिक को यह कहना पड़ा, इस रत्नकम्बल को मैं नही खरीद सकूँगा। हताश होकर वणिक राज सभा से लौट गया।

समस्त दिन राजगृह के पथों पर चक्कर काटते हुए वह श्रेष्ठी

शालिभद्र के घर पहुँचा। बोला, इस राजगृह की इतनी ख्याति! किन्तु खेद है कि समस्त नगर में कोई ऐसा नही मिला जो इन रत्न-कम्वलो को खरीद सकता!

यह सुनकर शालिभद्र की माँ नीचे आई। वोली, हताश क्यों हो गए। लो, मैंने खरीदी तुम्हारी सब कम्वलें।

वणिक आश्चर्यचकित हो गया। सोचने लगा अवश्य कोई भूल हो गई है। अतः भ्रम दूर करने के लिए वोला, किन्तु उनकी कीमत वीस लक्ष सुवर्ण मुहरें हैं।

भद्रा वोली, इसके लिए क्या चिन्ता है?

सचमुच ही इसके लिए भद्रा को चिन्ता नही थी, चिन्ता तो तव हुई जव वणिक ने सोलह रत्नकम्वलें ही दी। वत्तीस पुत्र वधुओ के लिए उसे कम से कम वत्तीस कम्वलों की तो आवश्यकता थी ही।

किन्तु किया भी क्या जा सकता था। अतः सोलह रत्नकम्वलो के दो टुकडे करके भद्रा ने समान रूप से सवको वाँट दिया।

उधर सन्ध्या के समय जव राजा अन्तःपुर में गए तो देखा घर में दीपक नही जला था। न ही चेलना ने राजा से वात की।

राजा वोले, क्या हुआ तुमको?

चेलना ने जवाव दिया, और क्या होगा? मेरे लिए एक झोपडी वनवा दीजिए। वस वहीं चली जाऊँगी।

राजा वोले, हठात् हुआ क्या?

चेलना मुँह घुमाए रही।

मन ही मन राजा सब कुछ समझ गए। बोले, ओ यह बात है! अच्छा, मैं वणिक को बुलवाता हूँ।

सोचने लगे, राजकोष में चाहे कितना ही अर्थाभाव हो, रत्नकम्बल खरीदे बिना मुझे शान्ति नही मिलेगी।

किन्तु वणिक का कही पता नही चला। खबर आई कि उसके समस्त रत्नकम्बल शालिभद्र ने खरीद लिये हैं।

राजा का मन विस्मय से भर उठा। क्या शालिभद्र इतना धनी है?

दूसरे दिन उन्होंने अनुरोध पूर्वक कहलाया कि एक रत्नकम्बल अनुचर द्वारा भेज दें। साथ ही उसका मूल्य भी बतला दें।

यह सुनकर भद्रा ने कहा, महाराज को रत्नकम्बल भेजने में मूल्य का तो प्रश्न ही नही उठता। किन्तु रत्नकम्बल घर पर नही है?

तब कहाँ गए?

भद्रा का चेहरा रक्तिम हो उठा। बोली, यह मैं कैसे कहूँ! मेरी पुत्रवधुएँ किसी भी वस्तु को दुबारा व्यवहार नही करती। अतः रत्नकम्बल तो अब फेंक दिए गए।

दूत उत्तर लेकर लौट गया। सुनकर राजा अवाक् हो गए। फिर सोचने लगे, क्या सचमुच ही शालिभद्र इतना धनी है? उन्होने कहलाया मैं शालिभद्र को देखने आ रहा हूँ।

तदुपरान्त एक दिन राजा शालिभद्र को देखने आये। घुड़शाला से घोड़े निकले, हाथीशाला से हाथी। आगे लोग, पीछे लश्कर।

भद्रा ने सभी की अभ्यर्थना की। फिर श्रेणिक को लेकर अन्तःपुर पहुँची।

शालिभद्र का महल सात खण्ड का था। प्रथम खण्ड पर सुवर्ण स्तम्भ पर सुवर्ण की छत थी जहाँ दास-दासी रहते थे।

श्रेणिक प्रथम महल से आये द्वितीय महल में, फिर तीसरे, चौथे, पाँचवें में। वहाँ सुवर्ण दीवार पर माणिक्य के पक्षी बने हुए थे मुक्ता के फल एव पन्ने के पत्ते थे।

राजा ने कहा, अव और नही चला जाता, वस यही वैठता हूँ।

भद्रा शालिभद्र को बुलाने गयी।

शालिभद्र कभी नीचे नहीं उतरे थे। घर के आदमियों के सिवाय किसी का मुँह नहीं देखते थे। व्यवसाय का समस्त कार्य भद्रा ही देखती थी। अतः असमय में माँ को देखकर वोले, माँ तुम।

हाँ मैं। राजा आए हैं।

शालिभद्र राजा को नहीं जानते थे। वोले, राजा? क्या चाहते हैं वे?

भद्रा वोली, चाहते कुछ नही हैं। तुम्हारी ख्याति सुनकर केवल तुम्हें देखने आए हैं।

शालिभद्र वोले, नही मिलूँ तो क्या हानि है?

भद्रा वोली, ऐसा नहीं हो सकता। वे राजा हैं। समस्त देश के अधिपति। वही सव की रक्षा करते हैं। उनका आदेश अमान्य नही किया जा सकता।

शालिभद्र ने प्रश्न किया, क्या वे मेरे भी अधिपति हैं?

भद्रा मुस्कुरा कर बोली, हाँ बेटा।

शालिभद्र यह सुनकर गम्भीर हो गए। वे कहने लगे, तो मेरा भी कोई अधिपति है, मैं ही सर्वोपरि नहीं हूँ।

माँ बोली, पगला कहीं का।

शालिभद्र को देखकर राजा लौट गए। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि वे शालिभद्र को नहीं, शिउली वन में खिला हुआ प्रभात-कालीन शिउली फूल को देख रहे हैं।

किन्तु शालिभद्र उसी चिन्ता में तल्लीन हो गये। उन्हें रह-रहकर यही स्मरण हो रहा था कि मेरे ऊपर भी कोई अधिपति है।

शहनाई का स्वर अब उन्हें मधुर नहीं लगता, केश सुवास में मन मदमस्त नहीं होता। सब कुछ नीरस सा प्रतीत होने लगा।

एक दिन शालिभद्र ने माँ से कहा, क्या करूँगा माँ, इतना छोटा स्वामित्व लेकर ? मैं तो सर्वोपरि होना चाहता हूँ।

यह सुनते ही माँ का हृदय काँप उठा। इसीलिये तो उसने शालिभद्र को सबसे अलग रखा था। एक दिन इसी भाँति उसके पति भी तो सब कुछ छोड़ कर चले गए थे। यह वह भूली नहीं थी।

माँ बोली, बेटा, सर्वोपरि बनने का पथ बड़ा कठिन है। तुम सकोगे नहीं।

शालिभद्र बोले, क्यों नहीं सकूँगा ?

प्रत्युत्तर देती हुई भद्रा बोली, बेटा, वह सन्यास का पथ है। पैरों में काँटे चुभेंगे, समस्त देह क्षत-विक्षत हो जाएगी। क्या तुम यह सब सह सकोगे ?



शालिभद्र ने कहा, माँ मुझे तो बस तुम्हारा आशीर्वाद चाहिए।

भद्रा का हृदय भर आया। पुनः बोली, शालिभद्र! तुम्हें किस वस्तु का अभाव है? देवताओं का वैभव तुम्हारे पैरों तले है। क्या चाहिए तुम्हें?

शालिभद्र ने कहा, माँ मुझे तो बस तुम्हारा आशीर्वाद चाहिए।

माँ बोली, तब ठीक है। सारा संसार एक ही दिन में तो छोड़ा नहीं जा सकता। थोड़ा-थोड़ा करके छोड़ो।

भद्रा जानती थी कि ऐसी स्थिति में अपने ही संस्कार कभी-कभी बाधक बन जाते हैं।

शालिभद्र की बहिन सुभद्रा स्वामी की पदसेवा कर रही थी। न जाने कब अनजान में एक बूँद आँसू स्वामी के पैरों पर जा गिरा। धन्य चौंक उठे। बोले, सुभद्रा तुम रो रही हो?

सुभद्रा ने अंचल से आँसू पोंछे। बोली, रोऊँ नहीं तो क्या करूँ। संसार परित्याग करने के लिए शालिभद्र नित्य एक रानी को छोड़ता है।

सुनते ही धन्य हा-हा करके हँस पड़े। बोले, क्या? ऐसा तो कभी नहीं सुना। जब वैराग्य हो जाता है, विवेक जागृत हो जाता है, तब संसार तो एक साथ ही छूट जाता है।

सुभद्रा को आघात पहुँचा। सोचने लगी, ये शालिभद्र को छोटा समझ रहे हैं। अतः कह उठी, कहना आसान है, करना कठिन। तुम छोड़ो देखें—

यह लो छोड़ा, कहते हुए धन्य मुहूर्त्त मात्र में ही संसार का

परित्याग कर चले गए। वह धन, वह सम्पत्ति, वह सम्मान, वह वैभव एव रूपसी नारियाँ किंचित मात्र भी उनके मन में वैक्लव्य उपस्थित नही कर सकीं।

सुभद्रा हृदय-विदारक हाहाकार करती हुई पथ के किनारे धूल पर अधड में टूटी हुई अश्वत्थ डाल की भाँति पडी रही। अनुनय, विनय, क्षमा-प्रार्थना एवं अविरल अश्रुजल से भी धन्य को लौटा न सकी।

जिस दिन यह वात शालिभद्र के कानों में पडी, उसी दिन वे भी सवस्व त्याग कर भिक्षापात्र हाथ में ले निकल पडे।

प्रसन्नचन्द्र

भगवान महावीर जिस समय गुणशील चैत्य में अवस्थित थे, राजगृह के महाराज श्रेणिक चतुरंगिनी सेना के साथ उनकी पद-वन्दना करने आये।

राह में नगर से बाहर लता पत्तों से आवृत एक स्थान पर पोतनपुर के राजा प्रसन्नचन्द्र को ध्यान करते देखा। राजर्षि के सौम्य एव शान्त मुख को देखकर श्रेणिक का हृदय अपार श्रद्धा से भर उठा। वे सोचने लगे, राजर्षि की इस तपस्या की तुलना नही।

गुणशील चैत्य में महावीर को प्रणाम कर श्रेणिक ने अपना आसन ग्रहण किया। उसके बाद बोले, प्रभु! राह में आते समय मैंने ध्यान-मग्न प्रसन्नचन्द्र को देखा। राजर्षि जैसी तपस्या तो मैने बहुत ही कम देखी है। एतदर्थ उनके विषय में एक बात जानने को मैं अत्यन्त उत्सुक हूँ। जिस समय मैंने उन्हें देखा, यदि उसी समय उनका देहावसान हो जाता तो वे किस लोक को प्राप्त करते?

महावीर ने कहा, सप्तम नरक को।

सप्तम नरक!

जितने भी वहाँ उपस्थित थे सभी स्तब्ध से हो गये। यह कैसी



जिस समय मैंने उन्हे देखा, यदि उसी समय उनका देहावसान
हो जाता तो वे किस लोक को प्राप्त करते ?

असम्भव वात। इतने महान तपस्वी के विपय में तो ऐसी कल्पना भी नही की जा सकती। किन्तु, सर्वदर्शी भगवान महावीर ने जब कहा है तो शका को स्थान कहाँ।

श्रेणिक ने पुनः प्रश्न किया, प्रभु। यदि इस क्षण, अभी उनका देहान्त हो जाता तो ?

महावीर ने कहा, षष्ठ नरक।

श्रेणिक ने पुनः प्रश्न किया, यदि इस क्षण ?

महावीर ने जवाव दिया, पचम नरक।

इसके वाद श्रेणिक प्रश्न करते गये, अव ? अव ? अव ?

महावीर उत्तर देते गये, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम नरक।

और अव ?

प्रथम देवलोक।

तत्पश्चात् द्वितीय, तृतीय, पचम और अन्त में सर्वोच्च देवलोक।

ठीक उसी समय वायु फूलों की भीनी सुवास से सुवासित हो उठी। दूर कही आकाश में देव दुन्दुभि वजने लगी। एक अपूर्व आनन्द के आवेग में समस्त विश्व चचल हो उठा। अपरिमित आनन्द से राजा श्रेणिक का रोम-रोम पुलकित हो गया। श्रेणिक स्थिर न रह सके। पूछ ही वैठे, प्रभु ! यह क्या ?

महावीर ने कहा, प्रसन्नचन्द्र ने आत्मा के प्रकाश के समस्त आवरणों को इसी क्षण क्षय कर डाला है। वे मुक्त हो गये।

विस्मय पर विस्मय ! कहाँ सप्तम नरक ! कहाँ प्रकाश के आवरणों का क्षय !

श्रेणिक वोले, कुछ समझ में नहीं आ रहा है, प्रभु।

महावीर ने कहा, अभी स्पष्ट किये देता हूँ। सव कुछ समझ जाओगे। तुमने जव प्रथम वार प्रसन्नचन्द्र को देखा था उस समय उनका चित्त भ्रमित था। और उस चित्त विभ्रम का कारण था उनके शिशु पुत्र पर आने वाली विपद, जिसे कि वे तुम्हारे अनुचरों के वितर्क द्वारा जान पाये थे। उस वात को सुनकर उनका ध्यान भंग हो गया था। पोतनपुर जव शत्रुसेना से अवरुद्ध था, राज्य रक्षा जव अनिश्चित थी, ता देश, राज्य एव शिशु पुत्र के लिये उन्होंने हाथ में अस्त्र धारण कर लिया।

श्रेणिक वोले, भगवन् ऐसा क्यों हुआ ?

महावीर ने जवाव दिया, समस्त प्रश्न एव समस्त जिज्ञासाओं का निराकरण किये विना ध्यान नही हो सकता। राजर्षि को शिशु-पुत्र की राज्य-रक्षा के विषय में जो संशय था उसका समाधान किये विना ही तो श्रमण दीक्षा लेकर वे ध्यान में अवस्थित हो गये थे। उनकी धारणा थी, किसका ससार। किन्तु वे भूल गये थे कि ससार उनका स्वयं का ही था। इस वात को वे उस दिन नही समझ सके थे। अतः इसी एक छोटे से सशय ने विराट रूप धारण कर उनको पथ से विचलित कर दिया।

तत्पश्चात ?

तत्पश्चात जव उनका अस्त्र टूटकर हाथ से गिर पडा और दूसरा अस्त्र वे पा नहीं सके, तव अपने मस्तक के मुकुट को उतार कर ही विपक्षी दल पर आक्रमण करने को तत्पर हुए। मस्तिष्क पर हाथ पड़ते

ही उनकी चेतना लौट आयी। अरे! कहाँ मुकुट? कहाँ शत्रु सैन्य? और कहाँ पोतनपुर? मैं तो श्रमण हूँ। नगर के बाहर उद्यान में ध्यान कर रहा हूँ।

अब वे समझ पाये कि स्वय पर विजय प्राप्त किये विना बाह्य त्याग की कोई वास्तविक महिमा नहीं है। क्योंकि ससार भी तो अपनी ही विसृष्टि है।

और यही चेतना उन्हें उच्चतर लोक में ले जाने का कारण बनी जिसकी परिसमाप्ति हुयी प्रकाश पर आये हुए समस्त आवरणों के क्षय मे।

उदायी

सोलह देशों के एकछत्र राजा थे उदायी। उनके शासन में कही भी शिथिलता नही थी। उनका शासन न्याय पर प्रतिष्ठित था। इसीलिये उनके राज्य में श्री, सम्पदा और वैभव के साथ-साथ प्रजा के मन में अखण्ड शान्ति भी थी।

एक समय विवेकजात वैराग्य से राजा के मन का ममत्व नष्ट हो गया। वे समझ गये कि ससार में हम जिसे अपना कहते हैं, वे सब हमारे लिए वन्धन नही है। वधन है ममत्व भाव।

अतः जिसे मैं और मेरे का ममत्व नही है, उसके लिये ससार में कही कुछ भी वन्धन नही है। वह मुक्त हो जाता है। और मुक्त हो जाने के वाद सोना और पत्थर दोनो समान ही प्रतीत होते हैं।

राजा उदायी भी जव इस अवस्था में आये तो उन्होंने एक दूर का सम्पर्क रखने वाले आत्मीय के हाथों में राज्य सौंपकर वन की राह पकड ली।

तत्पश्चात् दीर्घ पथ अतिक्रमण कर वे वहाँ पहुँचे जहाँ भगवान महावीर सशिष्य अवस्थित थे। उनकी शरण ग्रहण कर राजा उदायी धन्य हुए।

अनेक दिनों के पश्चात् एक दिन भगवान महावीर के चरणो में प्रणाम करते हुये उदायी बोले, मेरी इच्छा उसी राज्य में जाने की है जो कि किसी समय मेरा था। क्योंकि वहाँ छोटे-बडे सभी मुझे जानते है और मै भी उन्हें जानता हूँ। अतः मेरे लिये वहाँ धर्म प्रचार करना सहज होगा और इससे उन लोगो का कल्याण भी होगा।

भगवान महावीर ने कहा, ठीक है।

नवीन राजा ने जब सुना कि उदायी उसके राज्य में आ रहे हैं, उसका हृदय प्रसन्नता से भर उठा। उन्हें कुछ कष्ट न हों इस व्यवस्था के लिये उसने अपने अनुचरों को पूर्ण सतर्क कर दिया। भला, वह ऐसा क्यों नही करता ? उदायी की दया से ही तो वह राजा बना था। इच्छा करने पर उदायी उस राज्य को किसी अन्य व्यक्ति को दे सकते थे। अतः जबकि उदायी के कारण ही वह इतना वैभवशाली बन पाया तो उनकी सुख-सुविधा की उत्तम व्यवस्था करना तो उसका कर्त्तव्य ही हो गया था।

नवीन राजा की सम्मति पाकर उदायी के बन्धु-बान्धव, आत्मीय-परिजन, पूर्व मन्त्री एव राज्य-कर्मचारी सभी उनकी सेवा के लिये प्रस्तुत होने लगे। राजधानी की जनता उस राजर्षि को देखने के लिए उत्सुक हो उठी।

किन्तु चुगली करने वालों का अभाव भी तो किसी युग में नही रहा। भला वह युग उसका अपवाद कैसे बनता। उन्ही में से एक राजा के पास आया और पूछने लगा, राज्य में इतनी प्रसन्नता ? इसका क्या कारण ?

राजा विस्मित होकर बोले, अरे ! तुम्हे नही मालूम ? राजर्षि उदायी आ रहे हैं ।

राजर्षि उदायी ? उनके लिये इतनी खुशी ? कहते-कहते उसका मुख विकृत हो उठा ।

उसकी इस विकृत मुखाकृति को देखकर राजा और भी विस्मित होकर कहने लगे, वे आ रहे हैं इसमें तुम्हारे लिये अप्रसन्नता का कौन-सा कारण बना ?

वह आदमी राजा के मुख की ओर देखता ही रह गया। कहने लगा, मेरे लिये ? मेरे लिये तो कुछ नही है। किन्तु हाँ, कुछ दिन अपेक्षा कीजिए तब मालूम हो जायेगा कि चिन्ता की क्या बात है ?

किसी अज्ञात शका से राजा का मन विचलित हो उठा। गम्भीर होकर राजा ने कहा, अब तो तुमने सचमुच ही चिन्ता खडी कर दी। आखिर बात क्या है कहो तो ।

राजा की आन्तरिक स्थिति उससे छिपी नहीं रही। अतः कहने लगा, यदि मैं बात कह दूँ तो शायद आप मेरा मुख भी देखना पसन्द नहीं करेंगे ।

राजा अधीर हो उठे। बोले, और यह भी तो हो सकता है कि तुम्हारा मुख और भी अधिक देखने लग जाऊँ। क्या तुम जानते हो राजर्षि क्यों आ रहे हैं ?

उस व्यक्ति ने जवाब दिया, अब आप कुछ समझ-पाये हैं। उदायी अपना राज्य लेने आ रहे हैं। यदि ऐसा नही होता तो महावीर का पवित्र सान्निध्य छोड़कर राजधानी में क्यों आते ।

राजा कुछ सोचते हुये फिर बोले, नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। वे तो सब को सत्य की राह दिखाने आ रहे हैं, मैंने तो यही सुना है।

किन्तु जितने विश्वास के साथ राजा को यह बात कहनी थी उतने विश्वास से वे नहीं बोल सके। अतः राजा की दुर्बलता से लाभ उठाकर वह कह उठा, तब आप अपनी जानकारी को लिये बैठे रहिये। फिर कुछ रुककर बोला, क्या आप नहीं समझ पाये कि मैं आपका एकान्त हितैषी हूँ। ये सब मन्त्री, बड़े-बड़े राज्य-कर्मचारी, उदायी के बन्धु-बान्धव, आत्मीय-परिजन सभी इतने व्यस्त क्यों हैं? क्या आप नहीं देख पा रहे हैं? सेवा? वह तो ढोंग है। इनके पीछे एक षडयन्त्र है।

वह व्यक्ति राजा के मुख की ओर देखने लगा। अब अविश्वास का कोई कारण नहीं था। राजा को भी स्वाभाविक रूप से विश्वास हो गया। उसका हृदय अशान्त हो उठा। क्रोध से अधीर हो कहने लगा, राज्य में इस षडयन्त्र के फैलने के पूर्व ही इसे निर्मूल कर नष्ट कर देना होगा। अतः राजा की नवीन घोषणा लेकर दूत चला। घोषणा यही थी कि उदायी को कोई भी खाने के लिये अन्न एवं रहने के लिये स्थान न देगा। जो देगा उसे कठोर सजा दी जायेगी।

अब किसका साहस था कि उदायी को कोई अन्न, जल एवं स्थान दे।

साधु-सन्त के आगे-पीछे तो कितने ही पुण्य-लोभातुर लगे रहते हैं। किन्तु उदायी जब राजधानी पहुँचे तो राजपथ पर वे अकेले ही थे। जिस पथ से वे निकलते, देखते-देखते वह जनहीन हो जाता। उन्हें

देखते ही चौंककर लोग अपने घर का दरवाजा उनके सम्मुख ही बन्द कर देते।

उदायी कुछ समझ न सके कि ऐसा क्यों होता है? न तो वे क्षुधा शान्त करने को अन्न पा सके, न तृष्णा के लिये जल। किन्तु इसकी कोई चिन्ता उन्हें न थी। हाथ में भिक्षापात्र लिये उदायी राजधानी के एक रास्ते से दूसरे रास्ते पर विचरने लगे।

सामने ही रास्ते में एक उनका सुपरिचित व्यक्ति हठात् सम्मुख पड़ जाने के कारण बगल काट कर जा न सका। अतः जल्दी से बोला, मेरे घर पर बहुत लोग आये हुये हैं। इसीलिये वहाँ तो जरा भी जगह नही है। और खाना? वह तो आपको जो भी मिलेगा. तत्पश्चात् क्या कहे कुछ स्थिर न कर सकने के कारण राजपथ के एक स्तम्भ को जैसे कोई उसका परिचित हो, ऐसा समझते हुए, आ रहा हूँ—कहकर शीघ्रता से उसकी आड़ मे अदृश्य हो गया।

किन्तु उदायी को न सुख था, न दुःख। अत. उनका प्रशान्त हृदय जरा भी विचलित न हुआ। बस केवल मुस्कुरा कर रह गये।

उदायी चलते रहे। चलते-चलते राज्य की सीमा पार हो गई। मध्याह्न का सूर्य मस्तिष्क पर था। असह्य था उसका उत्ताप। हवा के तीव्र झोंके के साथ आने वाली धूल आँखों पर, मुख पर, शरीर पर गिर रही थी।

दूर, अनेक दूर उन्हें दिखाई दी जीर्ण-शीर्ण दीवाल के पास धूप में जले हुये ज्वार की पक्तियाँ। काष्ठ विदीर्ण कर देने वाली उस तीव्र धूप में कही छाया का लेशमात्र नही था।

कुछ देर के पश्चात् ही उदायी आ खडे हुए एक कुम्हार के घर के सामने। दरवाजा खुला था और कुम्हार की पत्नी खडी थी दरवाजे के समीप ही। उदायी की प्रशान्त एव प्रदीप्त मुख छवि उसके अन्तर को स्पर्श कर गयी।

उदायी को आवश्यकता थी क्षुधा के लिये अन्न की, तृष्णा के लिये जल की एव माथा टेकने के लिये स्थान की।

कुम्हार-पत्नी उदायी के श्रान्त चेहरे को देखकर समझ गयी कि अनेक पथों का अतिक्रमण करते हुये ही ये गॉव की इस वस्ती में आये हैं। पूछने लगी, क्या शहर से आये हो ?

उदायी ने जवाव दिया, हाँ।

फिर न जाने क्या सोचते हुए कुम्हार की पत्नी ने पुन. पूछा, वहाँ क्यों नही रहे ?

उदायी बोले, वहाँ स्थान न पा सका।

स्थान नहीं मिला। मरें वे मवके सव। अच्छा ठहरिये। मैं घर में पूछ कर आ रही हूँ।

कुम्हार कार्य में व्यस्त था। श्रमण को घर में स्थान देना होगा सुनकर चिल्ला उठा, अरे वे सव जितने हैं, सव ठग, वदमाश हैं। कोई जरूरी नही है उन्हें खाना-पीना देने की। शीघ्रता से विदा करो उसे।

कुम्हार-पत्नी वोली, नहीं नहीं, यह वेचारा ऐसा नही है। इसका तो

तू ठहर। उन सवको तो मैं जानता हूँ। वे सव. ..

कुम्हार की पत्नी को अव क्रोध आ गया। वह भी चिल्लाती हुयी



कुम्हार पत्नी कहने लगी, साधुजी हमारा तो टूटा-फूटा छोटा घर है,
रूखी-सूखी रोटी है, इसमें आपको कष्ट तो नहीं होगा ?

कहने लगी, क्या जानते हो ? तुम जानते हो केवल गिटना। और क्या जानते हो ? यदि उसे घर से निकाल दिया तो आज खाने की आशा मत करना—कहती हुयी कुम्हार की पत्नी घर की ओर मुडी।

खाने की टोका टोकी सुनकर कुम्हार भी क्रोधित हो गया। किन्तु उसने अपने को सम्भाल लिया क्योंकि पत्नी को वह अच्छी तरह जानता था। वह समझ गया कि अधिक कुछ कहूँगा तो यह सारा खाना-वाना उठाकर फेंक देगी। बहुत समय हो गया था। भूख भी जोर से लग रही थी। अतः यथासम्भव अपनी आवाज को नरम बना कर बोला, तुझे तो गुस्सा बहुत आता है। क्या है उसका नाम ?

वह मैं क्या जानूँ। पूछ लो जाकर। कहती-कहती वह घर में घुस गयी।

कुम्हार ने बाहर खडे उदायी को देखा। समझ गया कि यह ऐसा-वैसा साधु नहीं है। उसकी पत्नी ठीक ही तो कहती थी। अत. दूर से ही प्रणाम करते हुये पूछा, कहिये साधुजी, क्या नाम है आपका ?

उदायी बोले, उदायी।

उदायी। हमारे राजा। हठात् नवीन राजाज्ञा उसे स्मरण हो आयी। वह जल्दी से घर में गया और अपनी पत्नी को पुकार कर कहने लगा, सुन रही है, यह राजा उदायी है। यदि इन्हें रहने दिया तो तेरा घर उजड जायेगा और राजा के लोग तुझे पकड कर ले जायेंगे। बोल अब क्या बोलती है ?

कुम्हार भयभीत हो गया था किन्तु पत्नी के भय से उदायी के सामने ही दरवाजा बन्द न कर सका। फिर वह सोचा कि अब तो

उसकी पत्नी भी डर जायेगी और यही कहेगी, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। तब वह उनके सम्मुख ही दरवाजा. बन्द कर आयेगा। किन्तु उसकी पत्नी के भयभीत होने का कोई लक्षण दिखाई नही दिया। बल्कि वह तुरन्त बोल उठी, कैसा है यह राजा? साधु-श्रमण को भी ठहरने का स्थान नहीं देता है। फिर कुम्हार को लक्ष्य करती हुई कहने लगी, सुन लो, यह घर जैसा तुम्हारा है वैसा मेरा भी है। यदि तुम उसे स्थान नही दोगे तो मैं दूँगी।

कुम्हार डरता-डरता बोला, यदि ऐसा हुआ तो मेरा घर लुट जायगा और तुझे भी पकडकर ले जायेंगे।

कुम्हार की पत्नी झुँझलाकर बोली, धत्! क्या लुट जायगा? अरे इस काठ-कवाडे की एक ढेर राख होगी। ले लेने दो उसे राजा को ही। बेचारे के शरीर में लपेटने को काम आयेगी। और क्या लेगा? इस गधे को लेगा? ले ले। गधे पर नही चढ़ेगा तो भला ऐसा राजा और किस पर चढ़ेगा? और मुझे पकडकर ले जायेंगे तो ले जाँय। खाना खिलाना होगा। घानी में खटा-खटाकर मारेंगे तो मार लेंगे। एक दिन तो मरना ही है। पीछे नही मरी पहले ही मरी सही। दो बार थोडी मार सकेगा। अरे एक बार तो सभी को ही मरना है। फिर डर क्या है?

उसकी बातें सुनकर कुम्हार को भी साहस आ गया। बोला, ठीक बोलती है। जा साधु जी को बुला ला। अपना सब कुछ देकर उनकी सेवा करेंगे। राजा आये है, अपने घर राजा।

कुम्हार-पत्नी उदायी को अपने घर ले आयी। कहने लगी,

साधुजी, हमारा तो टूटा-फूटा छोटा घर है, रुखी-सूखी रोटी है, इसमें आपको कष्ट तो नहीं होगा ?

किन्तु उदायी का मुख पूर्व की भाँति ही प्रशान्त था। उन्हें किसी भी स्थिति में कष्ट नहीं था। अन्याय ,अत्याचार एवं पीडा का अनुभव तो वे करते हैं जिन्हें ममत्व का बोध है। किन्तु जिसने सत्य का सन्धान पा लिया है और सत्य का सन्धान पाकर जो निर्मम हो गया है, उसे वह स्पर्श नहीं करता।

नागिला

नागिला की भाँति रूपवती नारियाँ उन दिनों अधिक नहीं थी। तभी तो प्रेमासक्त हो भवदेव ने पाणि-ग्रहण कर लिया था नागिला का।

नित्य ही समस्त दिन कार्य रहता था और चतुर्दिक छाया रहता था जन समूह। किन्तु बाहर के इस संसार को छोड़कर भवदेव आ पहुँचा था नागिला के निभृत हृदय के द्वार पर। नागिला में जो कुछ था, अनिवर्चनीय था, अविस्मरणीय था, उसी ने सहसा झंकृत होनेवाले वीणा के तारो की भाँति उसे चमत्कृत कर रखा था। अतः उसके सौन्दर्य को नित्य ही वह अपनी अभिरुचि के अनुसार सँवारता एव चिबुक पकड़ कर कह उठता, प्रिये! तुम तो मेरी इन्द्राणी हो।

नागिला को भी असीम प्रेम था भवदेव से। वह भी प्रत्युत्तर में कह देती, यह सब तो बस तुम्हारा प्रेम है।

भवदेव न जाने क्या सोचता और कहने लगता, छोटा सा है हमारा संसार। किन्तु तुम्हारा प्रेम? वह तो वेणुवन पर छाये सिहर-सिहर कर काँप उठने वाले पत्तों की भाँति है।

फागुन का महीना था। शाल फूलो की बहार थी। नागिला

भवदेव के सम्मुख बैठी थी। सुनहली किरणों में लहरा रही थी उसकी केश-राशि। झिलमिल कर रहा था उसका बहुमूल्य परिधान एव समीप ही बिखरी पडी थी दुर्लभ जातीय पुष्प मॅजरियाँ।

इसी समय बाहर के द्वार पर किसी के आने की आहट आई। भवदेव की इच्छा उठकर न जाने की होते हुये भी उसे जाना ही पडा।

दरवाजा के सम्मुख खडे थे उसके अग्रज भवदत्त।

भवदत्त ने छोटी उम्र में ही दीक्षा लेकर ससार का परित्याग कर दिया था। किन्तु इन दोनों में बहुत प्रेम था। इसलिये इतने दिनों के पश्चात् उन्हें देखकर भवदेव प्रफुल्लित हो उठा।

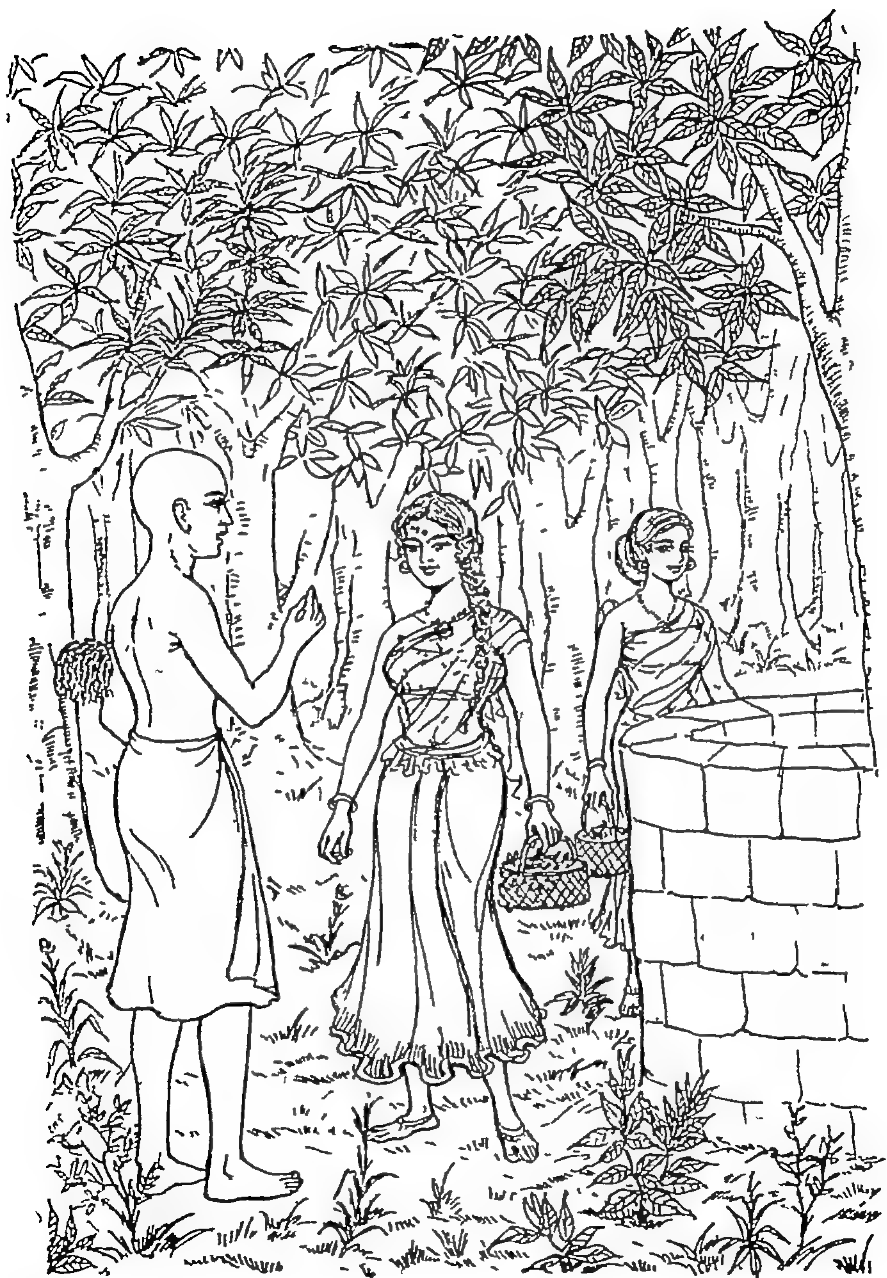
बहुत देर तक दोनों ने बैठकर वार्तालाप किया।

जाने के समय भवदेव भवदत्त का भिक्षा-पात्र हाथ में लेकर उन्हे कुछ दूर पहुँचाने गया।

कुछ दूर और, कुछ दूर और करते-करते भवदेव भवदत्त के साथ गाँव से गुजरता हुआ वन के किनारे आ पहुँचा।

किन्तु भवदत्त ने भवदेव के हाथ से भिक्षा-पात्र लेने का कोई उपक्रम नहीं किया और न ही भवदेव के मुँह से निकल सका, लीजिये आपका भिक्षा-पात्र, अब मैं जाता हूँ, जबकि नागिला के लिये उसका मन व्याकुल हो रहा था। वह सोच रहा था कि नागिला शायद आँगन में बैठी अब भी उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी।

भवदत्त के साथ हाथ में भिक्षा-पात्र लिए भवदेव को आते देख सभी श्रमण प्रसन्न हो उठे। यहाँ तक कि आचार्य ने दीक्षा का दिन भी निश्चित कर दिया।



एक अत्यन्त प्राचीन कुएँ के किनारे खडी हुई दो स्त्रियों को देखा।
उनके हाथ में वनफूलों की डाली थी।

नीबू के बगीचे से होकर गोशाला से गुजरते हुये धान के खलिहानों को पार कर तीसी के खेत के किनारे-किनारे आते समय जिस प्रकार वह नहीं बोल सका था, ठीक उसी प्रकार इस समय भी कुछ न कह सका। सोचने लगा कि भिक्षा-पात्र हाथ में लिए श्रमण-संघ में प्रविष्ट होकर यदि कहूँगा कि मैं स्वेच्छा से यहाँ नहीं आया हूँ तो इससे भवदत्त का अपमान होगा। और उनका अपमान करना भवदेव के लिये असम्भव था, किन्तु उससे भी असम्भव कार्य था नागिला को भूल जाना।

इस दुविधा में आखिर भवदेव ने दीक्षा ग्रहण कर ली। उसने सोचा, जबतक भवदत्त जीवित हैं, तब तक मैं यहाँ रहूँगा। तत्पश्चात् पुनः नागिला के पास लौट जाऊँगा।

बारह वर्षों के पश्चात् जिस दिन भवदत्त ने नश्वर शरीर का त्याग किया उसी दिन गहन रात्रि में जबकि सभी श्रमण निद्रित अवस्था में थे, पृथ्वी निस्तब्ध थी, अकेला ही भवदेव संघ से बाहर हो गया।

तत्पश्चात् समस्त वन और खेतों को पार करते हुये सवेरा होने के पहले ही वह अपने गाँव में आ पहुँचा।

भवदेव ने गाँव में, जहाँ उसका मकान था उस ओर जाने वाली पगदण्डी पर, आम्र उपवन से आच्छादित, एक अत्यन्त प्राचीन कुएँ के किनारे खड़ी हुई दो स्त्रियों को देखा। उनके हाथ में वनफूलों की डाली थी।

भवदेव कुछ सोच-मग्न सा हो गया। वह सोचने लगा कि कहीं ऐसा न हो कि मुझे मेरा घर धूलि-धूसरित मिले या वहाँ नागिला न मिले।

तब तो शून्य घर का क्रन्दन किसी मूक के क्रन्दन से भी अधिक हृदय विदारक ही होगा। अतः क्यो नही इन्ही लोगों से पूछ लिया जाय। यदि नागिला घर पर है तब तो मै जाऊँगा, नही तो जहाँ से आया हूँ वही पुनः लोट जाऊँगा।

एतदर्थ उनमें से एक को भवदेव ने नागिला के विषय में ज्योंही पूछा वह विस्मय भरी दृष्टि से भवदेव को निहारने लगी। उसकी आँखें छलछला आयी। बोली, क्या तुमने मुझे पहचाना नही ?

भवदेव गौर से उसे देखने लगा। क्या यह वही नागिला है ? कहाँ गया उसका वह शारीरिक सौन्दर्य ? लावण्य के रूप में यदि कोई वस्तु उसमें अवशेष थी तो वह था उसका मोहक हास्य।

किसी एक वसन्त में ही भवदेव चला गया था और जिस दिन घर लौटा वह भी एक वसन्त ही था। विकसित शाल मञ्जरियो की बहार में भवदेव को पूर्व स्मृति हो आयी। कहने लगा, नागिला, अब भी मै तुम्हारा ही हूँ।

नागिला ने हँसते हुये कहा, क्या मैं वही नागिला हूँ ?

भवदेव नागिला के कथन का अभिप्राय नहीं समझ पाया। अत. कहने लगा, नागिले। इन बारह वर्षो में तुम्हें छोडकर मैंने किसी अन्य का चिन्तन नहीं किया।

नागिला मन ही मन सोचने लगी, कितनी शरम की बात है यह ? क्या इतनी चाह का मूल्य मुझ में है ?

भवदेव बोला, चलो, घर चलें।

घर ? हम तुम एक साथ रह सकें ऐसा स्थान तो अब नही है

भवदेव उषा के अप्रतिम सौन्दर्य को निहारने लगा। प्राची में स्थित नीले पर्वत पर सूर्योदय हो रहा था। प्रभाकर की स्वर्णिम आभा में झिलमिला रहे थे नव-पल्लव। कहने लगा, क्या सचमुच ही स्थान नहीं है?

नागिला बोल पडी, कैसे रहेंगे? क्या तुम मुझ से यही आशा करते हो कि मै तुम्हें व्रतरहित देखूँ? मैं तुम से प्रेम करती हूँ।

असीम व्यथा से भवदेव का हृदय भर उठा यह सुनकर—मै तुम से प्रेम करती हूँ।

प्रेम के इसी उज्ज्वल रूप में नागिला ने चिर-विरह की वेदना को नयन-नीर में प्रवाहित कर दिया था।

भवदेव नागिला के मुख की ओर देखता ही रह गया। कितनी पूर्ण थी वह और साथ ही कितनी गम्भीर।

भला प्रेम में तुच्छ कामनाओं का कार्पण्य कैसे समा सकता था? इसी प्रेम में आशा और निराशा के झकोरों को सहती हुयी मन की सीमा को पारकर असीम के उस आनन्द में नागिला ने भवदेव को देखा जिसमें कि उसका वास्तविक कल्याण था। तभी तो वह कह सकी थी, मै तुम से प्रेम करती हूँ किन्तु मेरे घर में तुम्हारे लिये स्थान नही है।

भवदेव ने देखा कि नागिला साधारण मानवीय धरातल पर नहीं वल्कि विश्व-प्रेम के अरुणिम पद्म पर अवस्थित है।

भीगी घास की गन्ध से भरे वन-पथ से होकर उसी आनन्द की अभीप्सा लिये भवदेव पुनः एकवार निकल पडे।

थावरच्चा-पुत्र

थावरच्चा-पुत्र एक दिन छत पर खड़ा था। खड़ा-खड़ा सुदूर आकाश को निहार रहा था।

उस समय सध्या होने में अधिक देर नही थी। अपराह्न का आलोक क्रमशः धूसर हो रहा था। पक्षीगण नीड़ों की ओर लौट रहे थे। आंवले के गाछ की ऊपरी शाखा पर चाँद चमक रहा था। नीम-वृक्ष के पत्ते रह-रहकर मर-मर करते हुए काँप रहे थे।

थावरच्चा-पुत्र न जाने क्या सोच रहा था? किन्तु मधुर कण्ठ से गाया हुआ गीत ज्योंही उसके कानों में पड़ा वह सजग हो उठा। उसे लगा जैसे कुछ लोग एक साथ मिलकर गा रहे हैं। अधिक दूर नही, समीप ही। मन्द-मन्द हवा में प्रवाहित हो रहा था वह गीत। और प्रवाहित होते हुए उस गीत ने आविष्ट कर लिया था थावरच्चा-पुत्र को। उसे ऐसा लग रहा था कि इतना मधुर गीत तो उसने जीवन में कभी नही सुना। चाँद की रूपहली चाँदनी के लावण्य में जिस प्रकार आकाश की सीमा खो जाती है उस गीत में भी उसी प्रकार समस्त सीमाएँ एकाकार हो गई थी, जो कि उतना ही स्निग्ध था, उतना ही मधुक्षरा था।

विस्मय विमुग्धता के मिटते ही थावरच्चा-पुत्र दौड़कर माँ के पास

आया। उसके कोमल मन में रह-रहकर यही प्रश्न उठ रहे थे, कैसा गीत है? कौन गा रहा है? क्यों गा रहा है? उनका समाधान किए बिना वह रह न सका। और एकमात्र माँ को छोड़कर उसके इतने प्रश्नों का समाधान करेगा भी कौन? क्योंकि उम्र में बहुत छोटा जो था वह।

एक साथ इतने प्रश्नों को सुनकर माँ उसके पागलपन पर हँस पड़ी। कहने लगी, हैं रे! यदि मैं नहीं होती तो तू क्या करता? फिर कुछ रुक-कर बोली, उस मुहल्ले की सुषमा के घर में बच्चा होने वाला था, उसी बच्चे का जन्म हुआ है। इसीलिए सब मिलकर गा रहे हैं। आनन्द मना रहे हैं।

इस खबर को सुनते ही थावरच्चा-पुत्र का चेहरा खिल उठा। कहने लगा, अच्छा। पुत्र होने पर गाना गाते हैं? आनन्द मनाते हैं?

अपने पुत्र के बालों की उलझी हुई गुत्थी को सुलझाते हुए एवं सिर सहलाते-सहलाते बोली, मनाते ही हैं। मनाएँगे नहीं?

थावरच्चा-पुत्र का मुख जैसे और उद्भासित हो उठा। कहने लगा, मेरे जन्म पर भी क्या ऐसा ही गीत हुआ था?

होगा नहीं। निश्चय ही हुआ था—कहती हुई माँ हँस पडी। फिर बोली, इससे भी बढिया हुआ था, और अधिक हुआ था।

थावरच्चा-पुत्र उसी क्षण दौडकर पुनः छत पर चला गया और छत की दीवाल के सहारे खडे होकर उस गीत को सुनने लगा।

थावरच्चा-पुत्र उस समय न जाने क्या सोच रहा था। सम्भवतः सोचता होगा सन्तान जन्म होने पर मनुष्य को कितना आनन्द होता है।

किन्तु नहीं, जिस गीत को सुनकर वह नीचे दौडकर गया था, यह



सुषमा के घर में बच्चा होनेवाला था उसी बच्चे का जन्म हुआ है।
इसीलिये सब मिलकर गा रहे हैं।

वह गीत नहीं है। इसमें कहा है वह माधुर्य ? कहाँ है वह स्निग्धता ? यह गीत तो मार्मिक व्यथा से उद्भूत है जो कि आँखों में अश्रु लाता है

थावरच्चा-पुत्र एक टक आकाश को देखने लगा। अनतिस्फुट चन्द्र-ज्योत्स्ना आकाश के अग में लगी हुई है। फिर भी उसे लगा कि जैसे आकाश की प्रशान्ति कहीं नष्ट हो गई है। और रह-रहकर किसी का श्वास अवरुद्ध करने वाला क्रन्दन हवा में फूट रहा है।

थावरच्चा-पुत्र के मन में पुन. प्रश्न उठा कि ऐसा क्या हुआ जिसने मुहूर्त्त मात्र में सब कुछ परिवर्तित हो गया ? क्या वही सब, वही गीत गा रहे हैं ? वह फिर माँ के पास दौडकर आया।

उसने देखा माँ जमीन पर बैठी है। उसकी आँखों से टप-टप जल गिर रहा है। थावरच्चा-पुत्र ने पुकारा, माँ, माँ !

माँ ने पलकें उठाकर ज्योंही उसे देखा, शीघ्रता से आँसुओं को पोंछ डालना चाहा किन्तु पूर्णत. पोंछ न सकी। आँखो के कोने में छलके हुए आँसू प्रदीप के प्रकाश में झल-झल करने लगे। थावरच्चा-पुत्र उसी ओर देखता हुआ चुपचाप खडा रहा। उसके मन की बात समझने में माँ को देर न लगी। अतः सस्नेह उसे खींचकर हृदय से लगा लिया। बोली, वह गीत नहीं है—यही तो ? फिर स्वत. ही कहने लगी, सुषमा के परिवार का वह लडका सबको छोडकर चला गया।

छोडकर चला गया ? कहाँ गया ? उसे जाने क्यों दिया ? अब वह फिर कब आएगा ?—इसी प्रकार के अनेक प्रश्न थावरच्चा-पुत्र माँ से करने लगा।

पुत्र के इन प्रश्नों को सुनकर अश्रुओं के बीच ही माँ हँसने लगी। बोली, पागल कहीं का।

किन्तु इतने से वह माननेवाला नही था। अतः उसे पूर्ण वृतान्त समझाना पडा। कहना पडा, मृत्यु आकर उसे ले गई। अव वह कभी नही लौटेगा।

यह सुनते ही थावरच्चा-पुत्र का मुख उदास-सा हो उठा। फिर न जाने क्या सोचकर माँ से पूछने लगा, क्या सभी की मृत्यु हो जाती है, माँ?

पुत्र की छलछलाती हुई आँखें देखकर माँ कुछ आशंकित हो उठी। एतदर्थ उसकी वात का जवाव न देकर पुनः उसे कसकर छाती से लगा लिया। वोली, छोड इन सव वातों को।

नही माँ, वताओ। यह कहकर माँ के मुख की ओर देखने लगा। वोला, माँ क्या मेरी भी मृत्यु होगी?

किन्तु भला माँ अपने पुत्र से यह कैसे कहे। किन्तु वताए विना छुटकारा भी तो नही था। अतः धीरे से वोली, हाँ, एक दिन सभी की मृत्यु होगी। मैं भी तो सदैव नही रहूँगी।

जव थावरच्चा-पुत्र ने सुना एक दिन सव की मृत्यु होगी, सदैव कोई नही रहेगा, मृत्यु एकदिन सव को ले जाएगी, तव तो यह ससार व्यर्थ है, जिसमें हम उलझे हुए हैं। वह कितना अर्थहीन है। साथ ही साथ उसके मन में यह प्रश्न भी जाग्रत हुआ कि क्या संसार में ऐसी कोइ वस्तु नही है जिसके द्वारा मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर सके? कह सके, अव मुझे मृत्यु भय नही। मैने मृत्यु को जीत लिया है।

उस दिन से थावरच्चा-पुत्र ससार से विरक्त-सा रहने लगा। तदुपरान्त जिस दिन उसे श्रमण अरिष्टनेमि से मुक्तिपथ का सन्धान मिला, उसी दिन संसार परित्याग कर अरण्य में चला गया।

मल्ली

कोशल-नरेश प्रतिबुद्धि पधारे पटरानी पद्मावती की नाग पूजा में। वहाँ के समस्त आयोजन एवं सर्व प्रकार की साज-सज्जा में यदि वे किसी वस्तु से प्रभावित हुये तो वह थी पचरगी फूलों की माला। सहसा बोल पडे, ऐसी माला तो मैंने कभी नही देखी।

मन्त्री ने कहा, यदि आप अभय करें तो मै कुछ कहूँ।

राजा अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगे।

मन्त्री ने कहा, उस दिन विदेह-कुमारी मल्ली के जन्म दिन पर जो माला देखी थी उसके सम्मुख यह कुछ नही है। माला क्या थी मानों आकाशी इन्द्रधनुष।

राजा ने उत्सुकता से पूछा, लडकी कैसी हैं?

मन्त्री ने कहा, अत्यन्त रूपवती।

अब राजा का मन किसी कार्य मे नही लग रहा था। घर आते ही विदेह-राज के पास यही सदेश लेकर दूत भेजा, मल्ली मुझे चाहिये ही।

व्यापार से लौटते ही अरहन्नक भेंट लेकर राजसभा में उपस्थित

हुआ। अग-राज चन्द्रछाया ने उसे अपने पास बैठाकर पूछा, कहो इस वार कौन सी आश्चर्यजनक वस्तु देखी ?

वणिक ने कहा, इसवार सर्वाधिक आश्चर्य के रूप में देखा विदेह-कुमारी मल्ली को। उसके रूप की ख्याति सुन देवप्रदत्त कुण्डल लेकर मैं विदेह-राज के पास गया। कुण्डल देखते ही उन्होंने मल्ली को पुकारा और मेरे सम्मुख ही उसे वे कुण्डल पहना दिये। विधाता की उस आश्चर्यजनक सृष्टि को मैं देखता ही रह गया। मन कह उठा, अतुलनीय! अनुपम!

यह सुनकर अग-राज स्थिर न रह सके। तुरन्त विदेह-राज को दूत से कहलवाया, उन्हें मल्ली चाहिये।

कुणाल देश की राजकुमारी जल-क्रीड़ा समाप्त होने के पश्चात् अपने पिता को प्रणाम करने गयी।

शिशिर के स्निग्ध प्रकाश में उज्वल प्रातः-कालीन दिगन्त-रेखा की भाँति तिरछी थी उसकी आँखो की पलकें। चरणस्पर्श कर प्रणाम करती हुई वह चली गयी।

लौटते समय प्रकाश की छाया में कुछ क्षणतक वह दृष्टिगोचर होती रही।

कुणाल-राज रुक्मि ने न जाने क्या सोचा। फिर दूत को बुलाकर पूछा, राज्य की खबरें लेकर तुम तो अनेक देशों में गये हो। जरा बताओ तो उसके जैसी रूपवती कहीं देखी ?

प्रत्युत्तर में दूत ने कहा, राजकुमारी अवश्य ही रूपवती है किन्तु

ओह ! विदेह-कुमारी मल्ली का क्या अगलावण्य था। मानो द्राक्षलता में अंगूर का गुच्छा !

यह सुनते ही रुक्मि अन्यमनस्क से हो उठे। अब वही संदेश लेकर उनका भी दूत विदेह गया, मल्ली उन्हें चाहिये ही।

काशी-राज शंख का आश्रय लेने विदेह से स्वर्णकार आये। उनकी याचना सुनकर राजा ने आने का कारण पूछा।

उन्होंने जवाब दिया, विदेशी अरहन्नक राजकुमारी को देवदत्त कुण्डल दे गये थे, उसकी एक कडी न जाने कैसे अलग हो गयी और हम अपनी समस्त चेष्टाओं के पश्चात् भी उसे जोडने में असमर्थ रहे। तब राजा क्रुद्ध होकर बोले, कैसे कारीगर हो तुमलोग ? अतः विदेह में हमारा रहना कठिन था। किन्तु आप ही बताइये, इसमें हमारा क्या दोष ?

राजा ने कहा, कुछ भी नहीं। किन्तु राजकुमारी देखने में कैसी है ?

जैसे श्वेत गुलाब की पुष्पवर्षा !

यह सुनते ही काशी-नरेश शंख ने भी विदेह दूत भेजा वही संदेश लेकर, मल्ली मुझे चाहिये।

विदेह से विताडित होकर एक चित्रकार आया। कुरु-नरेश अदीनशत्रु के सम्मुख उपस्थित होकर वह बोला, मुझे आश्रय चाहिये।

वह सुनकर राजा ने कहा, आश्रय तुम्हें अवश्य दूँगा। किन्तु यह तो स्पष्ट करो कि वहाँ से तुम्हें क्यों निकाला गया ?

चित्रकार ने जवाब दिया, मैं विदेह-कुमार के केलिगृह में चित्र बना रहा था। सहसा एक आवाज सुनकर ज्योंही दरवाजे की ओर मुडा तो खूब दूरी पर किसी को गुजरते हुए देखा। कौन गया यह तो मैं नही जान सका। किन्तु मेरे मन में समा गया उस रूपसी के चंचल चरणों का गति सौन्दर्य। जो कुछ मैंने देखा उसी के आधार पर एक चित्र बनाया। दूसरे दिन ही विदेह-कुमार ने मुझे बुला भेजा। कहने लगे, केलिगृह में मेरी बहन मल्ली का चित्र क्यों? मैंने कहा, यह तो मुझे मालूम नही। किन्तु उन्होंने मेरी कोई बात नही सुनी और उसी क्षण मुझे विदेह से निकल जाने को कहा। इसलिये मुझे आना पड़ा। बाद में ज्ञात हुआ कि उस चित्र को ही यह समझ कर कि उनकी बहन मल्ली केलिगृह में आयी हुयी है वे बहुत लज्जित हुये थे।

अदीनशत्रु ने कहा, मुझे तो तुम्हारी क्षमता पर बड़ा ही आश्चर्य है। केवल एक अंग देखकर पूरा चित्र बना दिया!

चित्रकार हँसने लगा।

अदीनशत्रु ने आग्रहपूर्वक कहा, क्या और एकबार मल्ली का चित्र बनाकर दिखा सकते हो?

चित्रकार ने कहा, क्यों नही।

चित्रकार ने चित्र बनाकर राजा के हाथ में दिया।

अदीनशत्रु ने चित्र हाथ में लेकर देखा तो ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे शरीर नही, कोई पुष्पमजरी है!

अब अदीनशत्रु भी विदेह-राज के पास दूत भेजे बिना नहीं रह सके। वही याचना थी, मल्ली मुझे चाहिये ही।

पचाल-राज जितशत्रु के अन्तःपुर में परिव्राजिका आयी। राजा ने उसका खूब आदर सत्कार किया। खूब चर्चाएँ हुईं। जाने के समय परिव्राजिका ने कहा, मैं अनेक राजाओं के अन्तःपुर में गयी किन्तु विदेह-कुमारी मल्ली के जैसी रूपवती कहीं नही देखी। राजकुमारी क्या थी जैसे सन्ध्याकालीन नक्षत्र !

यह सुनकर जितशत्रु ने भी विदेह-राज के पास के दूत भेजा। उन्हें मल्ली चाहिये।

विदेहराज सभा में एक साथ काशी, कोशल, अग, कुणाल कुरु एव पंचाल के दूत पहुँचे। जव विदेह-राज ने सभी के मुख से एक ही वात सुनी तो प्रहरी को पुकार कर वोले, हटाओ इन सव को यहाँ से।

इसके वाद काशी, कोशल, अंग, कुणाल एव पचाल के मध्य दूतों का आवागमन हुआ और सभी ने मिलकर विदेह पर आक्रमण कर दिया। विदेह-राज एक साथ छः वाहिनी से युद्ध करने को प्रस्तुत नही थे। अतः निरुपाय होकर उन्हें दुर्ग का द्वार वन्द करवाना पडा।

शाम को मल्ली कुम्भ के सम्मुख उपस्थित हुयी। उसने कहा, पिताजी, आप इतने चिन्तित क्यों हैं? आप उनमें से प्रत्येक को कहलवा दीजिये कि आप मुझे उन्हें सौपेंगे, इसलिये वे दुर्ग में अकेले आयें। उनके दुर्ग में आने के पश्चात जो कुछ करना होगा वह मैं कर लूँगी।

कुम्भ मल्ली की ओर देखते रह गये। उन्होंने मल्ली की आँखो में वह ज्वलन्त आत्म-विश्वास देखा जिससे पर्वत को भी हटाया



मल्ली ने हँसकर कहा, खूब सुन्दर है-ना ?

जा सकता है, समुद्र से भी पथ मिल सकता है। अतः वे बोल उठे, ठीक है।

दूसरे दिन जब विपक्षियों के शिविर में यह सन्देश पहुँचा तो परस्पर परामर्श की अपेक्षा न रख के उसी दिन शाम को दुर्ग में जाने के लिये सभी सम्मत हो गये।

तदुपरान्त सन्ध्याकालीन समीर सुदूर से आनेवाली रजनीगन्धा की गन्ध से जब सुवासित हो उठी, तब छहों राजा एक साथ मल्ली के घर पहुँचे। एक दूसरे की तरफ देखकर वे सोचने लगे, आखिर क्या बात है? किन्तु इसके लिये कोई किसी से कुछ पूछ न सका।

कक्ष के मध्य रखी हुई थी मल्ली की स्वर्ण निर्मित प्रतिकृति। प्रतिमा क्या थी मानों सुदक्ष शिल्पी की सार्थक सृष्टि! आँख फिराये नहीं फिरती थी।

मल्ली ने हँसकर कहा, खूब सुन्दर है-ना? तत्पश्चात् मल्ली प्रतिकृति का मुख खोल देती है। क्षण भर में सारा कक्ष दुःसह सड़ी हुई गन्ध से भर उठा। मल्ली ने प्रतिकृति के मुख को ठीक से बन्द करते हुये कहा, शरीर भी इसी प्रकार विश्वास-घातक है।

मल्ली प्रतिदिन खाने के समय एक ग्रास उस प्रतिमा के भीतर डाल देती थी। उसी की सड़ी गन्ध थी वह।

वातायन के बाहर झाउगाछ के पीछे तृतीयाका चाँद चमक रहा था। उसी विरल अन्धकार से जैसे आवाज आयी, बाहरी रूप केवल धोखा है। उसकी ओट में जो कुछ है वह है मेद, मास, मज्जा और रुधिर, जो कि सभी इसी प्रकार कुत्सित हैं, दुर्गन्धयुक्त हैं।

मल्ली के इस कार्य से काशी, कोशल, अग, कुणाल, कुरु एव पञ्चाल-राज, सभी को जातिस्मरण ज्ञान हो गया।

धूँधले अतीत में उन्होंने एक साथ उत्तरण की तपस्या की थी। एव उसी उत्तरण पथ पर एकवार फिर वे एक साथ आ खडे हुये हैं। वे अनन्त अमृत, अव्यावाध आनन्द के अधिकारी हैं। फिर क्यों जो उन्हे अमृतत्व में प्रतिष्ठित न करें, आनन्द से अभिषिक्त न करें उसीसे चिपके रहें? इसलिये संसार त्यागकर वे एक साथ प्रव्रजित हो गये।

बाहुबली

चक्रवर्ती सम्राट वनने की इच्छा से भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत समस्त भारत पर विजय प्राप्त कर घर लौटे। वे सर्वत्र विजयी हुये।

देश लौटते समय अचानक याद आया कि उनके अनुज वाहुवली का आनुगत्य अव तक उन्हें प्राप्त नही हुआ है।

भरत ने वाहुवली को आमन्त्रित करने के लिये तक्षशिला दूत भेजा। वे सोच रहे थे कि वाहुवली सहज ही उनका आधिपत्य स्वीकार कर लेगा।

किन्तु जैसा भरत ने सोचा था वैसा हुआ नही। तक्षशिला से यह सम्वाद लेकर दूत लौटा, वाहुवली को अयोध्या आने में कोई आपत्ति नही और विशेष रूप से जव कि भरत ने उन्हें आमन्त्रित किया है, किन्तु एक सामन्त के रूप में तक्षशिला लौटने को वाहुवली कदापि तैयार नही।

इस वात को सुनकर भरत का चेहरा आरक्त हो उठा। तुरन्त सेना-पति को बुलाकर कहा, तक्षशिला को ऐसी शिक्षा देनी होगी ताकि वह भरत को कभी न भूल सके।

तत्पश्चात् वहुत दिनों तक युद्ध होता रहा। अनेक व्यक्ति मारे गये। किन्तु जय और पराजय का निर्णय नहीं हो सका।

भरत ने जव देखा कि जितनी सेना लेकर तक्षशिला आये थे, वह वहुत कम वच पायी है, तव वे चिन्तित हो उठे ।

उस दिन युद्ध वन्द होने के पश्चात् सध्या के समय जव वाहुवली भरत के शिविर में यह जानने के लिये आये कि भरत कैसे हैं, उन्हें कोई असुविधा तो नहीं है, तव भरत ने कहा, वाहुवली, इस युद्ध में दोनों की ही शक्ति क्षय हो रही है। इस प्रकार युद्ध करके क्या लाभ होगा ? हम अपने विरोध का निर्णय द्वन्द युद्ध करके क्यो न कर लें ?

वाहुवली ने कहा, आप ठीक ही तो कह रहे हैं। मै भी यही सोच रहा था ।

फिर दोनों ने वैठकर यह स्थिर किया कि द्वन्द युद्ध किस प्रकार करें ।

किन्तु जिन पाँच प्रकार से द्वन्द युद्ध होना तय हुआ था उन चार में तो भरत पराजित हो गये । शेष वचा था मुष्टि युद्ध । वाहुवली ने कहा, पहले आप प्रहार कीजिये। मेरा प्रहार सहन करने को शक्ति आप में नही है ।

भरत अव तक यह समझ चुके थे कि वास्तव में वह शक्ति उनमें नहीं है, अतः उन्होंने ही प्रथम प्रहार किया ।

उस प्रहार से वाहुवली घुटने तक मिट्टी में धँस गये । किन्तु तुरन्त ही वे उछलकर उठ खडे हुये ।

अव वाहुवली के प्रहार करने की वारी थी । उन्हें मुष्टि कसते देखकर भरत भयभीत हो गये । और यह जानते हुये भी कि ऐसा करना अन्याय है वे चक्र निक्षेप कर वैठे ।

किन्तु चक्र व्यर्थ होकर पुनः भरत के पास लौट आया। क्योंकि चक्र स्वजन को हनन नहीं करता।

भरत के इस अन्यायपूर्ण आचरण से बाहुबली क्रुद्ध हो उठे। भरत पर प्रहार करने के लिये फिर मुष्टि कसी।

किन्तु, न जाने क्यों, क्या से क्या हो गया। अचानक उनकी आत्मा जाग्रत हो उठी। वे देखने लगे, अपनी आत्मा में कितना आनन्द है, जहाँ न मान अपमान की धूल का स्पर्श है, न अहंकार के गह्वर हैं।

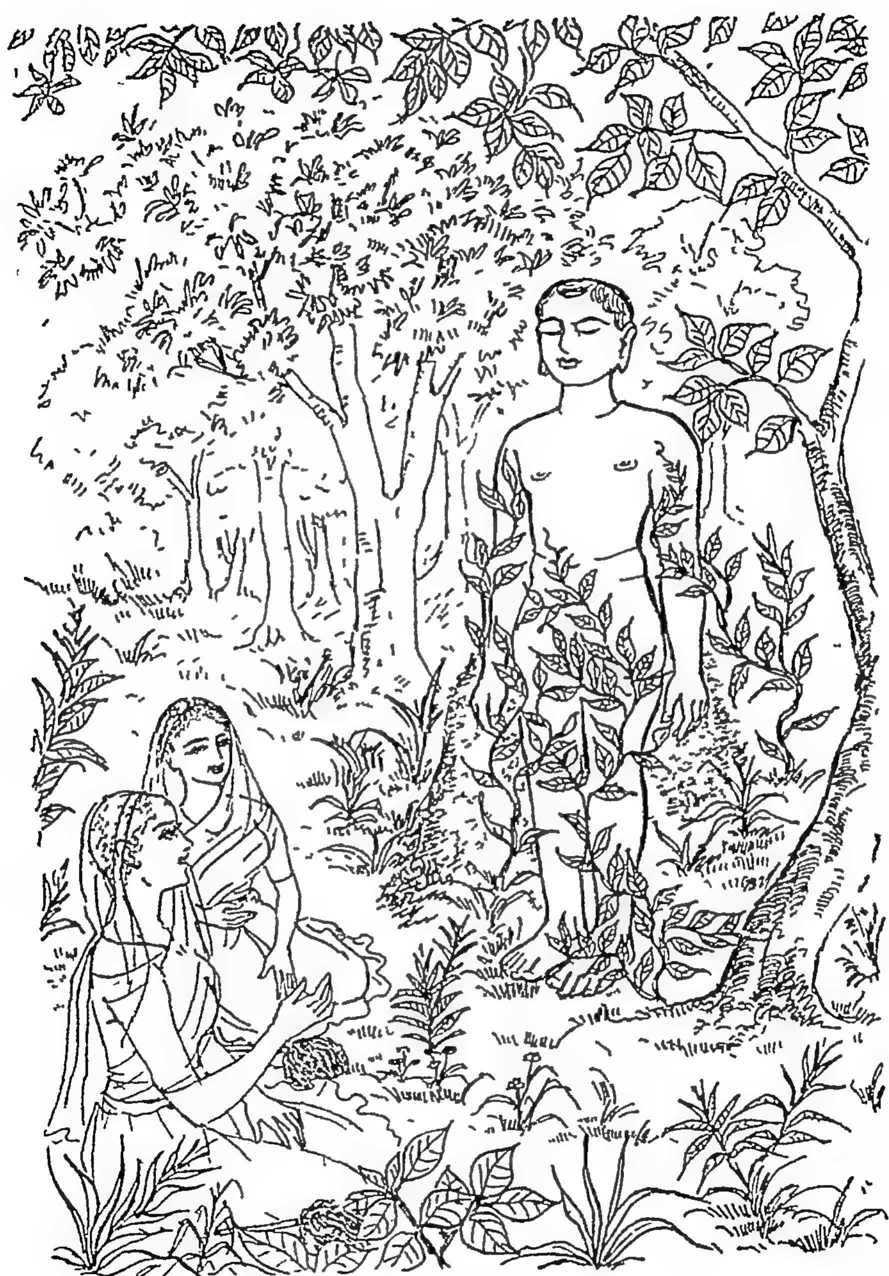
फिर किसलिये वे भरत की हत्या करें। उनकी आँखों से अश्रु प्रवाहित होने लगा।

बाहुबली की मुष्टि स्वतः ही खुल पड़ी।

एक क्षण के लिये न जाने बाहुबली ने क्या सोचा। फिर भरत को पुकार कर कहा, यह लो तक्षशिला का राज्य। इस राज्य से मुझे क्या मिलेगा? मैं तो उस राज्य की खोज में जा रहा हूँ जिस राज्य को प्राप्तकर अक्षय सुख का अधिकारी बना जा सकता है।

श्रमण बनकर बाहुबली ने कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी। वे ध्यान में इतने निमग्न हो गये कि उनकी देह पर लताएँ चढ़ आयीं। सिर एवं दाढ़ी में पक्षियों ने अपने घोंसले बना लिये।

भगवान ऋषभदेव की दो कन्याएँ थीं ब्राह्मी और सुन्दरी। बहुत दिन पूर्व ही वे संसार का परित्याग कर साध्वी बन चुकी थी। एक दिन उन्होंने भगवान ऋषभदेव से प्रश्न किया कि बाहुबली इस समय कहाँ है? क्या उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है?



भाई, हाथी पर सवार रहकर अनामय पद नहीं प्राप्त किया जा सकता।

ऋषभदेव जरा मुस्कराये। बोले, नही, वह अभी भी ध्यानमग्न है। एक साधारण सा अन्तराल उसके प्रकाश के आवरण को क्षय नहीं होने देता।

उन्होंने पुनः प्रश्न किया, वह अन्तराल क्या है ?

ऋषभदेव ने कहा, वह है एक सामान्य सा अभिमान। श्रमणसघ के नियमानुसार पूर्व दीक्षित अनुजो को वन्दना करनी पडेगी, इसीलिये वह आजतक यहाँ नही आ पाया। यह अभिमान जिस दिन दूर होगा, उसी दिन उसके प्रकाश के समस्त आवरण क्षय हो जायेंगे।

वाहुवली जहाँ तपस्या कर रहे थे, ब्राह्मी और सुन्दरी वहाँ पहुँचकर गीत गाने लगी, भाई, हाथी पर सवार रहकर अनामय पद नही प्राप्त किया जा सकता।

दिन भर उन्होंने यही गाया एव तारों से भरी रात्रि के अन्धकार में भी वे यही गाती रही।

धीरे-धीरे वह गीत वाहुवली के कानों में पहुँचा। वाहुवली की समाधिमग्न चेतना शनैः शनै. लौटी। वे सोचने लगे, क्या मैं हाथी पर सवार हूँ ? कहाँ है वह हाथी ? किन्तु साध्वियाँ तो झूठ नही वोलती। वे पुन. सोचने लगे।

आखिर गीत का भाव उनके सम्मुख स्पष्ट हो उठा। वे समझ गये कि अभिमान ही वह हाथी है। और अभिमान का परित्याग किये विना अनामयपद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसवार वाहुवली ने अपने अन्तर में झाँका। कैसा अभिमान ? कहाँ है वह अभिमान ? तदुपरान्त तीव्र आत्मनिरीक्षण द्वारा उन्होंने

स्थूलभद्र

चातुर्मास में जाने के पूर्व अल्पवयस्क श्रमण आचार्य से विदा लेने आये।

एक ने कहा, प्रभो, मैं सूखे कुएँ की काष्ठ-पट्टिका पर बैठकर जप करूँगा।

दूसरे ने कहा, प्रभु! मै उस अन्धकारमयी गुफा के द्वार पर जहाँ कि सिंह रहता है खडे होकर ध्यान करूँगा।

किसी अन्य ने कहा, प्रभो! पहाड के उस विवर के पास जिसमें अजगर रहता है मैं खडे होकर तपस्या करूँगा।

सबसे छोटे थे स्थूलभद्र। उन्होंने न जाने क्या सोचकर कहा, प्रभो! मैं कोशा की नृत्यशाला में इस व्रत का उद्यापन करूँगा।

यह सुनकर सभी के मुख पर एक व्यंगात्मक हास्य फूट पडा। यह वही है कोशा, जिसके प्रेम में पडकर स्थूलभद्र ने बारह वर्षों तक गृह परित्याग कर दिया था। आज भी उसी को यह भूल नहीं सका है। कितना लज्जास्पद है यह!

किन्तु, आचार्य ने कहा, ठीक है। उनके मुख पर परिवर्तन की एक क्षीण रेखा भी दृष्टिगोचर नही हुयी।

कोशा की नृत्यशाला के द्वार पर आ खड़े हुए स्थूलभद्र।

उन्हें देखते ही शीघ्रता से परिचारिका सामने आयी। उसने सोचा अवश्य ही ये राह भूलकर आये हैं। प्रणाम करके बोली, प्रभो! यह तो गणिका का घर है।

स्थूलभद्र ने कहा, मैं जानता हूँ।

यह कैसी अनहोनी बात! परिचारिका के विस्मय की सीमा न रही। कहने लगी, आपका नाम?

नाम? भला श्रमण का क्या नाम?

परिचारिका लज्जित होकर सम्वाद देने गयी।

बिखरी हुयी केशराशि में ग्रन्थिपाश देते हुये ज्यों ही कोशा उठने लगी कि श्रमण को आते देख ठिठक गयी। अरे! इन्हें यहाँ आने का रास्ता कैसे मालूम हो गया! तभी हठात् उसे लगा कि इस मनुष्य को कहीं देखा है। किन्तु कहाँ देखा वह स्मरण न कर सकी। और करती भी कैसे? जिन नेत्रों में कभी प्रणय की विह्वलता रहती थी, उन्हीं नेत्रों में थी सान्ध्यतारा-सी प्रशान्ति। तभी तो भूल ही गयी।

स्थूलभद्र बोले, तुम्हारे यहाँ चातुर्मास व्रत का उद्यापन करने आया हूँ, कोशा।

'कोशा'—चिरपरिचित स्वर में निज नाम को सुनते ही कोशा की सुप्त स्मृति के तार एकबारगी झंकृत हो उठे। जिसे वह चाहती थी, जो व्यक्ति इसी नाम से दिन-रात उसे पुकारा करता था, भला उसे कैसे नहीं पहचान पाती?

बोली, तुम! स्थूलभद्र!

हाँ। मैं। मुझे भूल गयी हो कोशा?

कोशा के पदतलों से धरती खिसकने लगी। आँखों के आगे अन्धकार छा गया। क्या वह भूल सकती है स्थूलभद्र को? जिसकी अनवरत प्रतीक्षा में न जाने कितने दिन और कितनी ही रातें आँखों में कट गयीं। क्या नहीं सोचा था उसने इस दिन के लिये। कितनी रंगीन कल्पनाएँ सजोयी थीं उसने इसी दिन के लिये। तभी अचानक उसकी दोनो आँखो मे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। तदुपरान्त संज्ञाहीन-सी होकर धरती पर गिर पड़ी।

जब उसे होश आया तो सोचने लगी, कहीं यह नव स्वप्न तो नहीं है? जिस आवेग में मैं स्थूलभद्र की प्रतीक्षा कर रही थी उसी का विभ्रम तो नहीं है यह?

स्थूलभद्र ने कहा, अनुमति दो कोशा।

कोशा मुँह फिराकर आकाश को निहारने लगी। विभिन्न आकृतियों में परिवर्तित होती हुयी, प्रवाहित होती हुयी, मेघमालाओं को वह एकटक देखती रही। किन्तु उस देखने में मन का कोई मिलाव नहीं था। आज वही व्यक्ति उसके पास आया है जो कि समीप होकर भी दूर है। इसी वेदना ने उसके हृदय को उद्वेलित कर रखा था।

कोशा?

कोशा ने मुँह घुमाया। बोली, देखो, इस प्रकार मुझे जलाओ मत। जब रहने आये हो, तो नृत्यशाला में ही रहोगे?

स्थूलभद्र ने कहा, क्या हानि है? किन्तु हाँ, तुम्हारी बहुमूल्य छोटी-बड़ी वस्तुएँ ...

उन सबके लिये तुम्हें कोई भय नहीं, वह सब मैं समझ लूँगी।

भय कैसा कोशा ? यदि भय ही होता तो मैं यहाँ आता नही। फिर भी हमारा आचार-विचार

वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही कोशा कह उठी, बारह वर्षों तक कहाँ था आचार और कहाँ था तुम्हारा विचार ? उस स्वर में प्रश्न नहीं था, था तीक्ष्ण व्यंग। तुम से सदाचार का पाठ नही पढ सकूँगी। मैं तुम्हें जानती हूँ, प्रभो।

स्थूलभद्र ने कहा, कोशा। तब मैं अन्धकार में था। मोह के कठिन आवरण के कारण, मछली जिस प्रकार जल की गहराई में ही डूबी रहती है मै भी उसी प्रकार निमग्न था तुम्हारे प्रेम में। मैं भूल गया था कि मैं कौन हूँ ? और कहाँ है मेरा घराना ?

तो ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अज्ञान के गृह में क्यों आये हो ? अवश्य ही तुम्हारे हृदय के किसी कोने में कोई-न-कोई लालसा अब भी अवशेष है। मेरा प्रेम श्वेत पुष्पों की वर्षा न कर काँटों की अभ्यर्थना करेगा यह तुमने क्यों नही सोचा ?

नहीं कोशा, मैंने सत्य का सन्धान पा लिया है। तुम्हें भी उसी पथ पर ले जाने आया हूँ।

मुँह फिराकर कोशा बोली, देखा जायेगा।

स्थूलभद्र के अधरों पर स्निग्ध कोमल हास्य बिखर पडा।

स्वर्ण थाल में भोजन सजाकर कोशा स्वय स्थूलभद्र के पास पहुँची। पायल की रुणझुण एव कंकण की कणकण ध्वनि से नृत्यशाला

मुखरित हो उठी थी। धूप के धूम्र से सुवासित केशों की सुगन्ध में सारा वायुमण्डल बोझिल हो रहा था।

थाल नीचे रखकर कोशा बोली, ओ ध्यानीजी! भोजन ले आयी है तुम्हारी दासी।

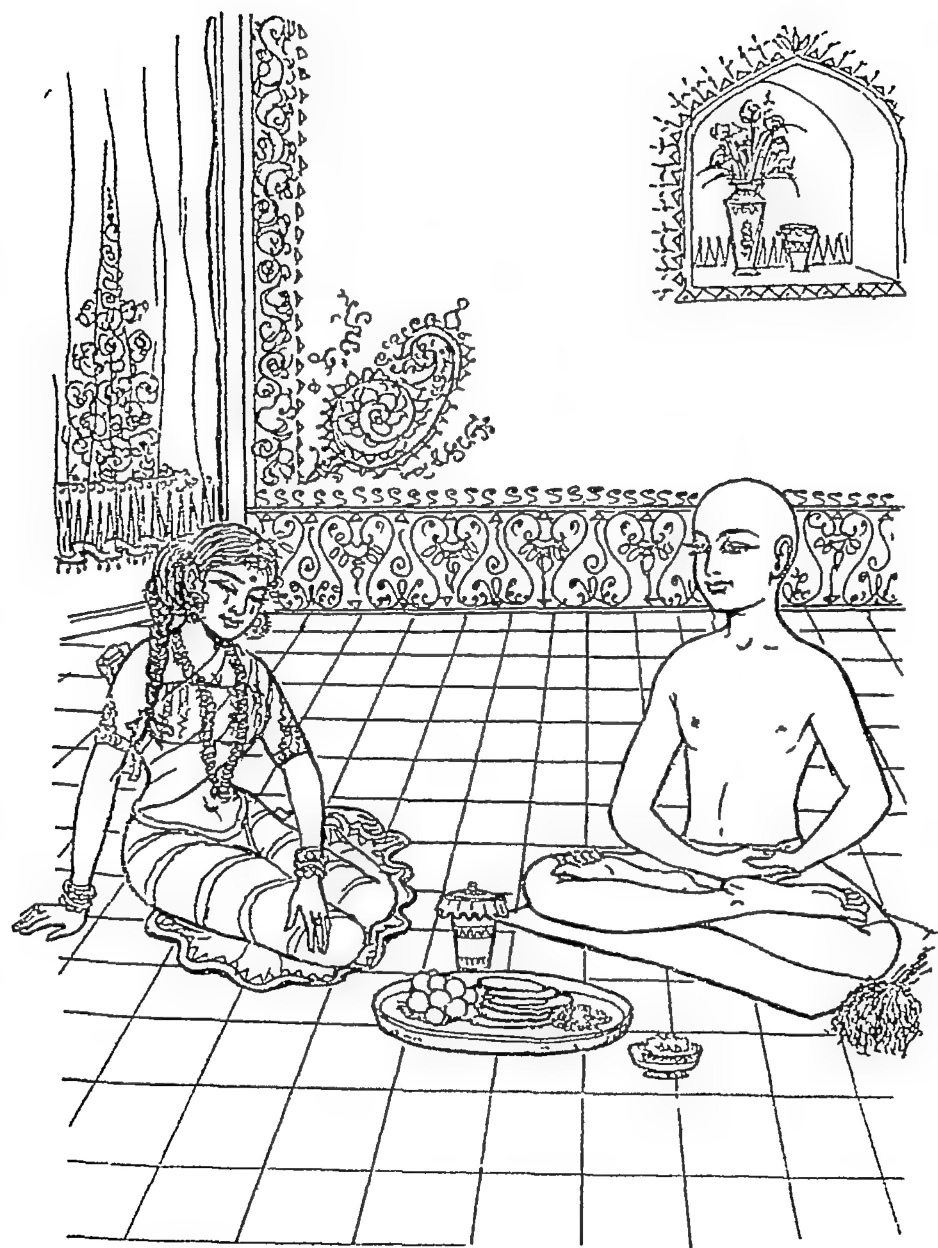
स्थूलभद्र ने आँखें खोली तो सम्मुख पाया श्रृंगार की रंगस्थली कोशा को। उसके शुभ्र ललाट पर था कुमकुम का विन्दु, राजिव नयनों में थी काजल की सूक्ष्म रेखा। गले में पहना हुआ था उन्ही का दिया हुआ बहुमूल्य मुक्ताहार। और कानों में लटक रहे थे माणिक्यजडित कुण्डल। ईषत् आवेग में काँप रहा था रक्त-वर्णीय कंचुकी का उच्छ्व-सित वासन्ती छोर।

तुम्हारे लिये भोजन लायी हूँ। अरे! इस प्रकार क्या देख रहे हो? शीघ्रता से दो ग्रास मुख में डाल लो, तुम्हारा ध्यान का समय बीता जा रहा है।

न जाने कितने ही वाक्य एक साथ बोल गयी कोशा। किन्तु, स्थूलभद्र की भावनाओं में कोई चाचल्य नहीं आया। धीरे-धीरे कहने लगे, ये सब मेरे लिये? तुम्हारा सब आयोजन व्यर्थ हो गया कोशा।

व्यर्थ क्यों हो गया? ये ही सब वस्तुएँ तो तुम्हें किसी दिन पसन्द थीं।

स्थूलभद्र मुस्कुराने लगे। बोले, मैं श्रमण हूँ। मेरे लिये बनाये गये भोज्य पदार्थों को मैं ग्रहण नही कर सकता। सबके खाने के पश्चात् जो कुछ बचेगा वही इधर-उधर से प्राप्त कर लूँगा।



कोशा के उभय नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा वह चली। कहने लगो,
तुम मुझे क्यो सता रहे हो ?

कोशा के उभय नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा वह चली। कहने लगी, तुम मुझे क्यों सता रहे हो? क्या तुम भिक्षा माँगोगे?

इतनी दु खित मत हो कोशा, यही तो श्रमण का जीवन है।

कोशा वहाँ से उठकर चली गयी। स्वर्णथाल में सुसज्जित भोज्य पदार्थ विना छुए ही पडे रहे।

वाहर वर्षा हो रही थी। चतुर्दिक छाया था रात्रि का सघन अन्धकार। समस्त वायुमण्डल सुवासित था वनमल्लिका की गन्ध से। शैय्याशायिनी कोशा के मस्तिष्क में अतीत की मधुर स्मृतियाँ उभर रही थीं। उसे स्मरण हो आया वह दिन, जिस दिन तरुणाई ने प्रथम वार अगडाई ली थी, जवकि पाटलीपुत्र के हर नवयुवक के अधरों पर उसी के उन्माद भरे यौवनकी चर्चा थी। शायद ही कोई नही उझल पाया होगा अनंग के उस अलक्ष्य जाल में। वासना की उस तप्तवाष्प में झुलस रहे थे सभी युवक हृदय। तभी हठात् एक दिन आये थे मन्त्रि-पुत्र स्थूलभद्र। कितने विलक्षण थे उनके नेत्र! न जाने किस क्षण निरंध्र प्राचीर को भेदकर हृदय में समा गये थे स्थूलभद्र। अत. मुग्धो का उमडता दल पा न सका कोशा को। क्योंकि सवकी कोशा हो चुकी थी एकमात्र स्थूलभद्र की। एतदर्थ अन्य सभी रसिकों के लिए अव कोशा के द्वार वन्द थे।

आखिर वह दुर्दिन भी आया जिस दिन राजाज्ञा पाकर चले गये थे स्थूलभद्र। राजा के आदेश से मन्त्री की हत्या कर दी गयी थी और उसी पद पर नियुक्त होने वाले थे स्थूलभद्र। किन्तु राजसभा से एक

दिन वे कहाँ चले गये, कोई जान न सका। फिर भी कोशा का मन कहता था स्थूलभद्र अवश्य लौटेंगे। क्योंकि वे एकमात्र उसी के जो थे। इसीलिये नवीन प्रेमियों के नूतन आमन्त्रणों की उपेक्षा कर वह वियोग की कठोर वेदना में ही विरह-शीर्ण दिनों को व्यतीत कर रही थी। और आज जबकि अश्रु भरे हृदयाकाश की मेघावलियाँ हवा में चंचल होकर काँप रही हैं, अविचलित हैं स्थूलभद्र।

किन्तु नहीं, कोशा हार नहीं मानेगी। अर्धरात्रि के समय जबकि समीर के प्रबल प्रवाह में गृह-कपाट खड-खड करते हुए काँप रह थे, कोशा ने अपनी अलकों में सुरभित कुसुमों की वेणी गूँथी, और आ खडी हुयी स्थूलभद्र के सम्मुख।

कोशा बोली, झिंगुर की झंकार में वेणुवन का अन्धकार भी जब थर्रा उठा, काँप-काँप कर गृह प्रदीप भी जब बुझ गया तब रोक न सकी मैं अपने को। स्थूलभद्र! चिर-विरह की इस मार्मिक वेदना को आपूरित कर दो तुम्हारे मधुर स्पर्श से।

किन्तु, ध्यान भंग न कर सकी कोशा।

पूर्णिमा का दिन था। कोशा का तन-मन आज अपूर्व माधुर्य के आवेग में आवेष्टित था। सन्ध्या से ही स्थूलभद्र के सम्मुख बैठी थी सम्मोहन की सूत्र-धारिणी कोशा। न जाने कौन से विचारों में खोयी-सी, ठगी-सी, हारी-सी। उसने अल्पना में सहस्रदल कमल चित्रित किया, सुन्दर वर्णों से उसे रंजित किया। तदुपरान्त समस्त रात्रि तालों की वह मर्मसंगिनी नाचती रही, गाती रही, किसी निपुण कवि की अवि-

च्छिन्न काव्य-धारा-सी लहराती रही। उसके चरण-चाप की द्रुत मन्थर गति से, तालानुग उत्ताल नर्त्तन से, सारा वातावरण थिरक रहा था— सिहर-सिहर उठा था धरती का श्यामल अचल।

किन्तु अकम्पित थे ध्यानी स्थूलभद्र।

रात्रि के कमनीय परिधान में थी कोशा। सभी वाद्ययन्त्र अपने आप ही झनझना रहे थे। क्या आकाश और क्या धरती—सर्वत्र ही मादकता छायी हुयी थी। यदि और कोई हुआ होता तो इस विद्युतवर्षण से अग्निधारा प्रवाहित होने लगती शिराओं में। और कहता अव तुम चली जाओ। अव मैं और अधिक नही सहन कर सकता। तुम जाओ।

इस प्रकार स्त्रियो के हस्तगत सभी कामास्त्र जव व्यर्थ हो गये तो कोशा कह उठी, व्यर्थ है यह रूप, व्यर्थ है यह कला और इसका गर्व। जिस रूप से लुभा न सकी निज प्रियतम को, क्या करूंगी उस रूप को लेकर? जो कला परास्त न कर सकी ध्यान गांभीर्य को क्या लाभ है उस कला से? किन्तु हाँ, जिसे मै पा न सकी वाह्य जगत में, उसे अवश्य प्राप्त करूंगी अन्तर्मन में।

नीलाकाश में सप्तर्षि उदित हुए। कोशा निहार रही थी आकाश को। और सोच रही थी, कितना विराट है यह ससार! कितना असीम है यह काल! वीणा के तारों को दवाती हुयी उसकी सुकुमार अँगुलियाँ न जाने कव अटक गयीं। किन्तु मेघ-मल्हार की मर्म भरी तान अभी टूटी नही थी। ठीक इसी समय आ पहुँचे स्थूलभद्र। न तो कोशा ने आभरण पहन रखे थे, और न ही थी वस्त्रो में चमक-दमक। परि-

म्लान कमल-कलिका की भाँति मुरझाई हुयी कोशा के चेहरे पर थी विषाद की काली रेखा। कहने लगे, यह क्या कोशा?

कोशा की विषाद भरी आँखें मानों कह उठी, अब और क्या चाहते हो तुम मुझसे?

स्थूलभद्र बोले, इतनी अशात क्यों हो कोशा?

कोशा बोली, मेरी वेदना क्या तुम्हारे हृदय को व्यथित करती है?

हाँ, कोशा। जरा याद करो तो, तुम्हारे प्रेम में एक दिन सब कुछ छोड कर मैं चला आया था। शायद सुख का आभास उस दिन पाया था किन्तु पा न सका था इस निरवच्छिन्न आनन्द को। कोशा! क्या उन दिनों अतृप्ति नहीं थी? वेदना नही थी? जिस सुख के पश्चात न क्लान्ति है, न अवसाद है और न-ही-है अतृप्ति की ज्वाला, वही तो है आनन्द। पूर्ण आनन्द।

सूर्य का आलोक जिस प्रकार अधकार को दूर कर देता है उसी प्रकार श्रमण की दृष्टि-आलोक में कोशा के मन का अन्धकार समाप्त हो गया। बोली, प्रभो, मै पतिता हूँ। क्या उस सत्य को प्राप्त करने की अधिकारिणी मैं हूँ?

क्यों नही?

उधर चातुर्मास समाप्त कर सभी श्रमण लौटे। किन्तु स्थूलभद्र नही आये थे। उन्होंने सोचा, स्थूलभद्र नही लौटेंगे। गणिका के अश्रुजल में संयम के बाँध को रखने की आशा तो दुराशामात्र ही है।

स्थूलभद्र लौटे। कठिन तपश्चर्या से उनका मुख प्रदीप्त हो रहा था।

स्थूलभद्र ने आचार्य को प्रणाम किया। आचार्य ने स्थूलभद्र का हाथ पकड़कर उन्हें अपने पार्श्व के आसन पर बैठाया।

इस दृश्य को देखकर सभी श्रमणों के मन में एक द्विधा उत्पन्न हो गयी। यह कैसा अन्याय? यह कैसा पक्षपात? जिन्होंने कठोर-कठोर व्रतों का पालन किया उन्हें जो सम्मान नहीं मिला वह स्थूलभद्र को क्यों मिला? जो कि एक सामान्य पतिता के घर में थे? न जाने वहाँ विभ्रम में थे या विलास में। किन्तु मुँह खोलकर बोलने का साहस किसी में नहीं था।

फिर आया चातुर्मास। सब चले गये किन्तु वे श्रमण नहीं गये जो कि सिंह की गुफा में रहे थे। वे बोले, प्रभो, इस बार मैं कोशा के घर व्रत का उद्यापन करूंगा।

आचार्य ने कहा, यह कार्य कठिन है। कर सकोगे तुम? केवल ईर्ष्या के वशीभूत होने से पछताना पड़ेगा।

प्रभु, मुझे आज्ञा दीजिये। मैंने अपना संकल्प स्थिर कर लिया है।

आचार्य ने कहा, ठीक है तब।

जब श्रमण बोले, कोशा, मैं तुम्हारे घर व्रत का उद्यापन करने आया हूँ, कोशा को एक वर्ष पूर्व की स्मृति हो आयी, क्योंकि इसी भावना से स्थूलभद्र भी आये थे। बोली, यह तो मेरा परम सौभाग्य है।

श्रमण ने सोचा, यही स्त्री कोशा है? न तो उसकी आँखो में कटाक्ष है, न ही होठों पर मादक हास्य। पतिताओं के हाव-भाव विलास-

विभ्रम की जो मूर्ति उनके भावो में थी उसके विपरीत थी कोशा। वे सोचने लगे, स्थूलभद्र ने कोई कठिन कार्य नही किया है। कार्य तो मेरा ही कठिन था। खैर। इसे भी करके दिखा दूँगा। तभी आचार्य को अपनी भूल मालूम होगी।

तरुण श्रमण ने सोचा था कि उन्होने अपने मन को पहिचान लिया है। किन्तु मन के अवचेतन में सुप्त वासनाएँ दबी थी। तभी तो वे समझ ही नही सके कि उनके तन मन को कौन आविष्ट कर रहा है। अतः तपस्या शिथिल होने लगी।

कोशा श्रमण के निकट कदाचित् ही जाती थी। फिर भी कोशा को देखते ही श्रमण के हृदयमें हूक-सी उठने लगती। श्रमण की यह अन्यमनस्कता कोशा से छिपी न रही। अत. उसने वहाँ जाना बन्द कर दिया।

किन्तु परिणाम हुआ विपरीत। श्रमण के दोनो नेत्र न जाने किसे खोजने का असफल-सा प्रयास करते रहते, दोनो कान किसी की पदध्वनि सुनने को सदैव उदग्रीव रहते। प्रतिपल हृदय के अणु-अणु में कोशा का नाम झंकृत होता रहता।

रात्रि में जबकि कोशा सोने जा रही थी, उसने श्रमण को अपने सम्मुख पाया। चौंककर बोली, प्रभो! आप?

श्रमण देखते ही रह गये कोशा के मुख की ओर! मानो कह रहे थे, क्या समझी नही, कोशा!

इस सुन्दर मुख की ओर यदि लाख-लाख वर्षों तक भी देखा जाए तब भी तृप्ति नही हो सकती। आज श्रमण की दृष्टि अपलक थी।

कोशा सन्मुख आकर बोली, प्रभो ! आप ?

श्रमण बोले, आज सब खो चुका हूँ कोशा, आज एकमात्र तुम्हीं हो। इसीलिये तुम्हें प्राप्त करने आया हूँ। कितनी सुन्दर हो तुम !

कोशा की आँखो में जल भर आया। क्या सचमुच ही नारी के जन्म-स्थान पर शैतान की दृष्टि रहती है ?

सहज रूप से बोली कोशा, आप मेरे अतिथि हैं। यह तो मेरा भाग्य है। किन्तु इस विनिमय के प्रतिदान में आप मुझे क्या देगें ?

मैं तो श्रमण हूँ। भला, क्या दे सकता हूँ तुम्हें।

बहुत देर तक सोचने के पश्चात् कोशा बोली, हाँ एक उपाय है किन्तु आप कर सकेंगे या नहीं ? नेपाल के सम्राट साधु सन्यासी को रत्न-कम्बल दान करते हैं, क्या आप मेरे लिये वह ला सकते हैं ?

क्यों नहीं ला सकता, कोशा ? तुम्हारी प्रसन्न मुद्रा यदि आँखों के सम्मुख रहे तो मुझे मरण का भी भय नहीं।

अनेक दिनों के पश्चात् अनेक दुःखों एवं कष्टो को उठा कर श्रमण लौटे। रत्न-कम्बल कोशा के हाथो में देते हुए बोले, लो।

रत्नकम्बल लेकर पहले तो कोशा ने उसे देखा, तत्पश्चात् टुकडे-टुकडे कर एक तरफ फेंक दिये।

एक दीर्घ निश्वास निकल पडी श्रमण के मुख से। कहने लगे, तुम इतनी बुद्धिहीन हो कोशा यह तो मुझे ज्ञात ही नहीं था ? इसके लिये मुझे कितना कष्ट उठाना पडा यदि यह तुम समझ पाती तो ऐसा मूर्खता-पूर्ण कार्य नहीं करती।

कोशा ने हँसते हुए कहा, और मुझे तो यह भी मालूम नही था कि समस्त जीवन को विसर्जित कर जिस चारित्र का निर्माण किया जाता है उसका परित्याग भी इतना सहज है ?

एक क्षण के लिये श्रमण की आँखो से कामना का काला पर्दा सरक गया और वे देखने में समर्थ हुए अपने को। अरे ! चारित्र की परीक्षा देते हुए मैंने तो विसर्जित कर दिया है चारित्र को ही। पशुराज की गुफा में और जो कुछ भी हो सकता है किन्तु चारित्र की परीक्षा नही हो सकती, वह तो हो सकती है कोशा के घर असीमित कामनाओ के कूल पर। और यही मैं हार गया।

करबद्ध होकर श्रमण ने कोशा से क्षमा-याचना की और मन ही मन चाहने लगे आचार्य की दया। फिर कामजीत स्थूलभद्र को प्रणाम कर निकल पडे।

नन्दीसेन

नन्दीसेन का संसार में अपना कोई नहीं था। उसके जन्म लेने के पश्चात् ही उसकी माँ का देहान्त हो गया था और कुछ दिनों बाद ही पिता का भी। इसीलिए उसका लालन-पालन मामा के घर हुआ।

मामा के घर पर भी नन्दीसेन सुखी नहीं था। [illegible] दिन उसे [illegible] तोड़ देने का [illegible] उसके हृदय में [illegible] ताड़ना, तर्जना और लाञ्छना।

किन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि सारा दोष मामा-मामी का ही था। क्योंकि नन्दीसेन स्वयं भी कुछ कम बुद्धिहीन था। [illegible] किसी भी कार्य को समुचित रूप से नहीं कर पाता। मामा ने उसे लिखना पढ़ना सीखने के लिए भी भेजा। किन्तु कुछ दिन व्यतीत भी न हो पाए कि वह वहाँ से भी भाग आया।

सभी प्रकार की ताड़ना एवं लांछना को तो सहन करने का नन्दीसेन अभ्यस्त हो गया था। नहीं होता तो करता भी क्या? किन्तु जब उसे मामा की लड़कियाँ कुत्सित कहकर उसका उपहास करतीं उसकी अन्तरात्मा व्यथा से भर-भर उठती। वास्तव में नन्दीसेन कुत्सित था। जैसा उसका गुण था वैसा ही था उसका रूप भी।

एक दिन समस्त दिन की खटनी करने के पश्चात नन्दीसेन घर के कच्चे आगन में स्थित वृक्ष के नीचे सो रहा था। उसे कुछ नीद सी आ गयी थी। तभी अचानक एक अट्टहास के कारण उसकी नीद टूट गयी। उसे ऐसा सुनायी पडा जैसे मामा की लडकी किसी से कह रही थी, कौन विवाह करेगा ऐसे काले कुत्सित से ?

इस वाक्य ने तीक्ष्ण तीर की भाँति उसके हृदय को वीध डाला। वह काला है, कुत्सित है, इसमें उसका क्या अपराध है ?

हठात् नन्दीसेन को ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके चारों ओर गहन अन्धकार छा गया है। प्रकाश की एक क्षीण रेखा भी जैसे उसके जीवन में अवशेष नही रही ?

अव नन्दीसेन घर पर नही रह सका। उद्‌भ्रान्त मन से वह एक पथ से दूसरे पथ पर भटकने लगा। जव रात पडी तो रास्ते के किनारे एक वृक्ष तले सो रहा। क्या होगा मामा के घर जाकर ? उसका अपना घर नही, जिसे वह अपना कह सके ऐसा भी तो कोई नही।

सोए-सोए ही नन्दीसेन ने एक स्वप्न देखा। उसे लगा जैसे सूर्योदय हो रहा है और समस्त जगत उसी सूर्योदय के आनन्द में उद्वेलित हो उठा है। पृथ्वी मानो एक अभूतपूर्व आविर्भाव की प्रतीक्षा कर रही है।

नन्दीसेन के पूर्व भव का पुण्य अभी शेष नही हुआ था, तभी तो वह ऐसा स्वप्न देख पाया। स्वप्न टूटते ही वह हडवडाकर उठ बैठा। देखा रात अधिक नहीं थी। पूर्वी आकाश में शुक्रतारा अव भी झिलमिला रहा था।

किन्तु जागने के साथ-साथ ही उसकी व्यथा भी जाग पड़ी। अतः घर लौटने की इच्छा ही नहीं हुयी। आँखों के सम्मुख जो राह थी उसी राह को पकड़कर अज्ञात रूप से आगे बढ़ता गया। शायद वह भी भूल गया कि उसने कौन सा स्वप्न देखा था।

इसी प्रकार निरन्तर चलते-चलते कितनी ही रातें व्यतीत हो गयीं एवं कितने ही दिन और कब वह राह शेष होकर वन में परिवर्तित हो गयी यह भी वह नहीं जान पाया। इसी भाँति एक वन से दूसरे वन में होते हुए वह पहुँच गया किसी महावन में।

उसी महावन में भटकते हुए नन्दीसेन को सुनायी पड़ा किसी का अमृत-निःस्यन्दी मधुर स्वर। जैसे कोई कह रहा था, नन्दीसेन! तुम क्या चाहते हो?

नन्दीसेन चौंक कर वहाँ का वहीं खड़ा रह गया। कौन पुकार रहा है उसे इस गहन वन में? किन्तु चाहे वह कोई भी रहा हो उसकी एक पुकार से नन्दीसेन की समस्त चेतना उसी प्रकार जाग्रत हो पड़ी जैसे सूर्य की प्रथम रश्मियों के स्पर्श से शतदल कमल।

नन्दीसेन आँखें उठाकर ऊपर देखने लगा। उसे दीखायी दिया नीला अन्धकार। किन्तु नहीं नहीं एक क्षण के पश्चात ही उसने देखा उसी स्वप्न में देखे सूर्योदय को। उसे लगा जैसे एक तेज पुंज श्रमण अपनी आँखों से वहती हुयी करुणा की धारा से उसे अभिसिंचित करते हुए उसी की ओर निहार रहे हैं।

नन्दीसेन उसी क्षण उनके पैरों पर गिर पड़ा। कहने लगा, प्रभो! मैं कुत्सित हूँ। न मेरे पास मेधा है, न बुद्धि। संसार में मेरे

लिए कही भी स्थान नही है। मै आपका शरणागत हूँ, मुझे आश्रय दीजिए।

श्रमण के दिव्य आनन पर हास्य की एक ज्योति उद्भासित हो उठी। उसी अमृत-नि.स्यन्दी स्वर में वे कहने लगे, वत्स! कौन कहता है तुम मेधाहीन हो, वुद्धिहीन हो, रूपहीन हो। वृहस्पति के समान तुम्हारी मेधा है, शुक्र के समान वुद्धि एवं प्रभात कालीन सूर्य के समान है तुम्हारा रूप। ससार में तुम्हारे द्वारा अनेक कार्य सम्पन्न होंगे। मै तुम्हें आश्रय देता हूँ। अव तुम्हें कोई भय नही।

आवेश के मारे नन्दीसेन का कठ अवरुद्ध हो गया। वह केवल इतना ही कह पाया, प्रभो! मैं आपका शरणागत हूँ, आपका शरणागत।

नन्दीसेन के उस वाष्परुद्ध कण्ठ स्वर के प्रत्युत्तर में पुनः श्रमण का वही अमृत-निःस्यन्दी स्वर सुनायी पडा, वत्स! मैं तुम्हें जो कार्य दे रहा हूँ आज से तुम मन वचन काया से उसी कार्य को करो। उसी से तुम्हारा कल्याण होगा।

इस वात को सुनकर नन्दीसेन पुन. एक वार उनके चरणों में लोट पड़ा। कहने लगा, प्रभो! मै शरणागत हूँ, शरणागत।

तदुपरान्त ज्योही नन्दीसेन उठकर खडा हुआ तो देखा कि श्रमण वहाँ नही हैं जहाँ वे खडे थे। किन्तु उनके न रहने पर भी उसे लगा उनकी आँखों से जो करुणा प्रवाहित हुयी थी, वह धरती आकाश एव समस्त वायुमण्डल में परिव्याप्त हो गयी है।

जहाँ श्रमण खडे थे नन्दीसेन ने उसी स्थान पर खडे होकर सकल्प

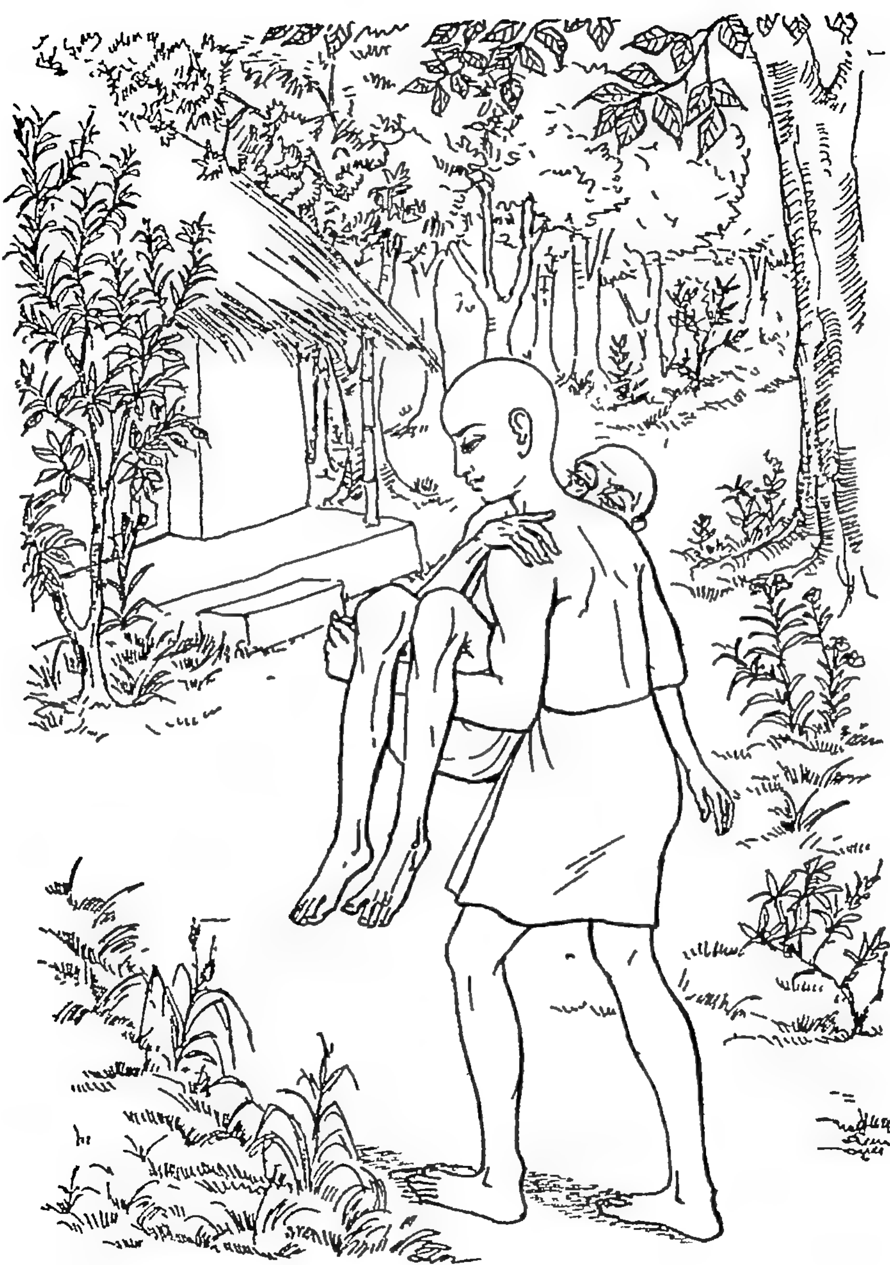
किया कि जो कार्य वे मुझे सौंप गए हैं उसे अवश्य ही मन वचन काया से सम्पन्न करूँगा।

उस वन को अतिक्रमण करते हुए नन्दीसेन एक गाँव में आया। गाँव के अन्त में एक उपाश्रय था। नन्दीसेन ने उसी उपाश्रय में आश्रय चाहा। वहाँ के श्रमणों ने उसे आश्रय दिया।

अल्प दिनों में ही नन्दीसेन उस उपाश्रय के सभी साधुओं का प्रिय बन गया। उसकी सेवा से सभी सन्तुष्ट थे।

नन्दीसेन केवल उपाश्रय के साधुओं की ही सेवा नही करता बल्कि राह में आते जाते सभी साधुओं को उपाश्रय में लाता। उनकी सेवा करता। इतना ही नहीं वहाँ के अधिवासियों की भी सेवा में वह निमग्न रहता। अत. सर्वत्र उसकी ख्याति फैल गयी। किन्तु जिसकी ख्याति फैल रही थी, उसको ख्याति की कोई कामना ही नहीं थी। अतः वह ख्याति को दोनों पाँवो से रौंदता हुआ अक्लान्त भाव से सबकी सेवा में सलग्न था। ऐसा लगता था मानो उस सेवा में वह स्वय को भी भूल गया था।

अनेक दिनों पश्चात् गाँव में अचानक विशूचिका महामारी फैल गयी। अब तो नन्दीसेन को एक क्षण का अवकाश नही। जब लोग गाँव छोडकर भागने लगे तब नन्दीसेन पीडितों के सिरहाने साक्षात करुणा की मूर्ति की भाँति सदा जाग्रत आँखो को लिए बैठा रहता। दिन पर दिन व्यतीत हो जाते किन्तु वह आहार प्राप्त नही कर पाता।



श्रमण को गोद में लेकर नन्दीसेन उपाश्रय की ओर चल पड़ा।

रात पर रात वीत जातीं किन्तु उसे सोने का भी अवसर नहीं मिलता। फिर भी नन्दीसेन के मुख पर न ही विरक्ति थी और न ही नेत्रों में क्लान्ति। वह अपने व्रत को सार्थक कर रहा है, वस—इसी में वह आनन्दित था, कृतार्थ था।

उन्हीं दिनों में एक दिन ऐसा भी आया जिस दिन नन्दीसेन खाने बैठा, तभी किसी ने खबर दी कि अतिसार से पीडित एक वृद्ध श्रमण कई दिनों से राह के किनारे पडे हुये हैं। उन्हें तुरन्त सम्भालने की आवश्यकता है। नन्दीसेन उसी क्षण खाना छोडकर श्रमण की सेवा में उपस्थित हुआ।

नन्दीसेन ने श्रमण को जिस स्थिति में पाया उसमें किसी अन्य व्यक्ति का सेवा करना तो दूर, खडा रहना भी कष्टप्रद था। किन्तु नन्दीसेन के मन में कोई विकार नहीं आया। उसने तत्क्षण उनकी देह को मालिन्य मुक्त किया। फिर धीरे से वोला, प्रभो! मेरे ऊपर भार देकर आप उपाश्रय तक यदि चल सकते हैं तो

नन्दीसेन को अपना वाक्य पूर्ण करने का सुयोग नहीं मिला। वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही वे श्रमण कराहते हुए शीघ्रता से वोले, कहाँ है वह हतभागा नन्दीसेन? जिसकी इतनी ख्याति सुनी थी। कितने दिनों से यहाँ पडा हूँ किन्तु उसकी सूरत तक दीखायी नही दी।

इस वात को सुनकर नन्दीसेन ने सिर झुका लिया। फिर नम्रता पूर्वक वोला, ख्याति की वात तो मुझे मालूम नही किन्तु वह हतभाग्य मैं ही हूँ।

तुम ! तुम हो ! जो कुछ सुना था सव झूठ निकला। तुम तो चण्डाल हो।

इतना सुनकर भी नन्दीसेन को क्रोध नही आया। उसने श्रमण के पैरो को कसकर पकडते हुए कहा, प्रभो ! आप ठीक ही कह रहे हैं। मैं चण्डाल ही हूँ, नही तो क्या आपको उपाश्रय तक पैदल चलने को कहता। आदेश दीजिए तो मैं आपको गोद में उठाकर उपाश्रय ले चलूँ।

तो ले चलो उसी प्रकार, श्रमण ने क्रोधावेश में कहा।

श्रमण को गोद में लेकर नन्दीसेन उपाश्रय की ओर चल पडा। रास्ता तो वहुत छोटा ही था, किन्तु उसे लग रहा था कि जैसे वह किसी प्रकार शेप ही नहीं हो रहा है। उसकी आँखो के सामने अन्धकार छाने लगा। मारे भार के हाथ टूटे जा रहे थे। पाँव तो मानो उठ ही नही रहे थे। कौन जानता था कि श्रमण के सूखे हाडो में इतना भार होगा !

इधर श्रमण भी रह-रहकर जोर से कराह रहे थे और धिक्कार रहे थे नन्दीसेन को कि अव और कितनी दूर है ? कितनी दूर है ?

जिस मालिन्य से नन्दीसेन ने उनको मुक्त किया था, उसी मालिन्य में वे पुनः लिप्त हो गए, मात्र स्वयं ही नही, इसवार उन्होंने लिप्त कर डाला था नन्दीसेन को भी। किन्तु नही, नन्दीसेन के मन में कोई भी वस्तु अव विकार पैदा नही कर सकती। अक्षुब्ध मन से वह उन्हें लिए चला जा रहा था।

और कितनी दूर ?

नही, अब अधिक दूर नही, सामने ही है अब उपाश्रय। नन्दीसेन पूर्ण शक्ति लगाकर पाँव उठाने लगा।

किन्तु यह क्या ? कहाँ से वहकर आ रहा है समीर में यह सौरभ ? अबतक जो गन्ध असह्य थी कहाँ गई वह गन्ध ? विस्मित भाव से नन्दीसेन ने सिर उठाया तो सम्मुख पाया उसी प्रभात के सूर्योदय को। वे ही श्रमण अपनी दोनों आँखों से प्रवाहित करुणा की अमल धारा से उसे अभिसिंचित कर रहे हैं।

तभी नन्दीसेन के कानों में दूर से आते सगीत की भाँति वहता हुआ वही अमृत-निःस्यन्दी कण्ठस्वर सुनाई पडा, नन्दीसेन ! मै तुम्हारी सेवा से सन्तुष्ट हुआ। तुम्हारा व्रत सार्थक हुआ। तुम सर्वार्थसिद्ध हुए।

पुनः वह कण्ठ स्वर सुनाई नही पडा, और न ही दिखायी दी वह दिव्य ज्योति। जिस श्रमण को वह अबतक वहन किए हुये था वे अन्तर्हित हो गए। नन्दीसेन अपलक देखता ही रह गया उपाश्रय की ओर।

प्रभो ! मै शरणागत हूँ, शरणागत, कहता-कहता जमीन पर लुढक पडा नन्दीसेन।